भारतीय धर्म और दर्शन

[भारतीय धर्म और दर्शन-सिद्धान्तों का परिचयात्मक
संक्षिप्त इतिहास ग्रंथ]

लेखक—

मिश्रबन्धु

रावराजा, साहित्यवाचस्पति (स्वर्गीय)
डा० श्याम बिहारी मिश्र, डी० लिट्०
(प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग)

रायबहादुर साहित्यवाचस्पति
डा० शुकदेव बिहारी मिश्र, डी० लिट्०
(हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस)

प्रकाशक

राष्ट्र-भाषा प्रकाशन, चौक बाजार, मथुरा।

वितरण सर्वाधिकारी

लोक साहित्य सहयोगी प्रकाशन, लि०, मथुरा।

प्रथम बार] सं० २००७ [मूल्य १॥)

प्रकाशक
राष्ट्र-भाषा प्रकाशन,
चौक बाजार, मथुरा।





मुद्रक—
राम नारायण अग्रवाल,
प्रबंध-निर्देशक,
लोक साहित्य प्रेस, मथुरा।

भूमिका

भारतवर्ष में सब से पहले कोल रहते थे जिनका मुख्य निवास पूर्वोत्तर भारत में था। उनके पीछे द्राविड़ आ कर दक्षिण में बसे। इन दोनों जातियों के धार्मिक विचारों का सार अद्यापि ज्ञात है। द्राविड़ों की उन्नत संस्कृति का ज्ञान हड़प्पा और मोहंजोदड़ो की वस्तुओं से प्राप्त है। पंडितों ने इस का समय ३३ वीं तथा २८ वीं शताब्दी ईसापूर्व का समझा है। इससे पहले इनकी सभ्यता देश में कब से चलती थी, इसके विचार तो हुए हैं किन्तु अभी तक निश्चयात्मक निष्कर्ष नहीं निकला है। अनन्तर दो धाराओं में यहाँ आर्य जाति का आगमन हुआ। इनका प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद है। आर्यों ने द्राविड़ों के योनि लिंग पूजन की तो ऋग्वेद में निन्दा की, किन्तु अपनी दोनों पूर्ववर्तिनी जातियों के किसी अन्य धार्मिक विचार की निन्दा न की, वरन् संसर्ग-वृद्धि से समय पर योनि-लिंग पूजन को भी ग्रहण कर लिया। भारतीय धार्मिक तथा सामाजिक सभ्यता बढ़ती हुई बहुत उन्नति कर गई किन्तु बी० सी० छठी शताब्दी के पूर्व यहाँ कोई विशेष धार्मिक मतभेद प्रकट न हुआ। उस समय जैनों तथा बौद्धों का प्रादुर्भाव हो कर धार्मिक भेद भी बढ़ कर प्रबल पड़ा। आर्यों में ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य की तीन कक्षायें समय के साथ बनीं। द्राविड़ लोग भी बहुतेरे इन्हीं में आ गये तथा जो लोग शेष रहे वे शूद्र कहला कर अनार्य माने गये तथा त्रिवर्ण वाले आर्य कहलाते रहे, यद्यपि उनमें बहुतेरे द्राविड़ भी थे। समय पर अनार्य निंद्य समझे जाने लगे। स्वयं गीता में आया है "अनार्य जुष्ट मस्वर्ग्यमकीर्ति करमर्जुन।"

जान पड़ता है कि आर्यों से मेल बढ़ने पर भी अनार्य नाम से शूद्र प्रसन्न न रहे न स्वभावशः इस शब्द की निन्दा से. इससे एक ऐसे नाम की तलाश हुई जिसमें सारे भारतीय एक समझे जायें। जब तीसरी शताब्दी बी० सी० में यूनानी यहाँ आये, तब सिंध नदी को महत्ता युक्त पा कर उसी के नाम पर देश को पुकारा और स को ह कहने वाली अपनी आदत के अनुसार उसे सिंध के स्थान पर हिन्द कहा। देश के हिन्द कहे जाने से उसके निवासी हिन्दू कहे जाने लगे। इस प्रकार सारे देशियों के लिये हमें एक सामूहिक नाम हिन्दू मिल गया। समाज में उपर्युक्त कारणों से एक ऐसे नाम की आवश्यकता भी थी, सो यह शीघ्रता पूर्वक चलन में आ गया। समय पर हिन्दुओं के अतिरिक्त यहाँ जैन, बौद्ध, सिक्ख, आर्यसमाजी, ब्रह्मो आदि स्थापित हुए। हैं ये सब हिन्दू ही और चलन भी वही हैं, किन्तु कभी कभी कहते अपने को पृथक भी हैं। तो भी माने हिन्दू ही जाते हैं। मुसल्मान और ईसाई भी जब से यहाँ बसे, तब से हिन्दू शब्द का लक्षण समझने का विचार उठने लगा है। अपने यहाँ बहुतेरे आचार्यों ने धार्मिक विषयों पर मत प्रकाशन समय समय पर किया है, जिन सिद्धान्तों में साम्य तो बहुतेरा है, किन्तु पार्थक्य भी बहुत कम नहीं है। हमारे समाज ने किसी विशिष्ट आचार्य के मत ग्रहण पर हठ नहीं किया है, यहाँ तक कि हमारे वेद भगवान को भी न मानने वाले बने हिन्दू ही रहे। हमारे न्यायालयों में भी उत्तराधिकार के सम्बन्ध में ये सब हिन्दू ही से हैं। सामाजिक बहिष्कार का प्रयोग हमारे यहाँ विविध कारणों से केवल मुसलमानों तथा ईसाइयों के साथ हुआ। अतएव हिन्दू का लक्षण समझने में किसी मत विशेष का

कथन न हुआ, वरन् ऐसा समझा गया कि जिन लोगों की भारत पितृ भूमि तथा पुण्य भूमि हो वह सब हिन्दू हैं। यह लक्षण मानने से विविध वाह्य देशों में रहने वाले अपने हिंदू भाई भी आ जाते हैं।

यह ग्रन्थ हमारे आठ निबन्धों का समूह है। इसमें मुख्यतः भारतीय धर्म एवं संक्षेप में दर्शन के सिद्धान्तों का कथन किया गया है। साथ ही इसमें समय के साथ प्रस्फुटित होने वाले भारतीय संस्कृति के रूपों तथा विचारों का भी दिग्दर्शन हुआ है। यह ग्रन्थ ऐतिहासिक विचारों को लेता हुआ चला है।

यद्यपि ऐतिहासिक तथ्यों पर मतभेद बहुत कुछ संभव है, तथापि दिग्दर्शन मात्र के विचार से उनका भी कथन कर दिया गया है। इस ग्रन्थ के निर्णय नवीन विचाराश्रयी पंडितों के निष्कर्षों से न्यूनाधिक मिलते हैं, यद्यपि अति नवीन विचारों का प्राचुर्य इसमें पाया ही जायगा। ऐसे विचारों को पूर्ण निर्णयों के रूप में न समझ कर उन्हें दिग्दर्शन मात्र समझना चाहिये, जिसमें इस निगूढ़ विषय पर वर्तमान भावों का निरीक्षण मात्र माना जाय, जिनके मानने न मानने का अधिकार प्रत्येक सुधी को है। यहाँ तो इस ओर ध्यानाकर्षण का प्रयत्न मात्र है। आशा है कि हमारा पंडित समाज इस महत्वपूर्ण विषय पर इस नवीन दृष्टिकोण से ध्यान देने की कृपा करेगा।

मिश्र भवन, गोला गंज,
लखनऊ।

विनीत
शुकदेव बिहारी मिश्र।

विषय सूची



अध्याय पृष्ठ



भारतीय धर्म और दर्शन

अध्याय १

आर्य्य धर्म का विकास

ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक,माण्डूक्य, तैत्तिरीय,ऐतरेय, छान्दोग्य और बृहदारण्य नामक दश मुख्य उपनिषत् हैं। इनमें से अन्तिम दोनों बहुत प्राचीन अर्थात् आठवीं शताब्दी ईसा से पूर्व की हैं। माण्डूक्य सबसे नया प्रायः तीसरी चौथी शताब्दी ईसा से पूर्व का समझा जाता है और कठ इससे कुछ ही पुराना। शेप छः उपनिषत् इन दोनों के बीच की समझ पड़ती हैं। हिन्दू धार्मिक साहित्य में ऋग्वेद सबसे प्राचीन और दृढ़ ग्रन्थ है. जिसका समय प्रायः बीसवीं शताब्दी से दशवीं शताब्दी ईसा से पूर्व तक प्रकट होता है। सब से प्राचीन वैदिक ऋषि चाक्षुप मनु हैं तथा सबसे नये नारायण ऋषि अथच खाण्डव दाह से उबारे हुए मन्दपाल ऋषि के चारों बेटे द्रोण, सारीसृक, जरितर और स्तम्बमित्र। सामवेद प्रायः ऋग्वेद की गाने योग्य ऋचाओं का संग्रह है। शेप दोनों वेद ऋग्वेद के ही समय के या उससे कुछ ही पीछे के हैं, किन्तु आठवीं या नवीं शताब्दी ईसा के पूर्व सब समाप्त होते हैं। ब्राह्मण और उपनिषत् ग्रन्थ दशवीं शताब्दी से चलकर तीसरी चौथी शताब्दी ईसा के पूर्व तक के हैं। सूत्र ग्रन्थ ब्राह्मण ग्रन्थों से कुछ पीछे प्रारम्भ हुए हैं। यही सब वैदिक साहित्य है। विद्वानों का मत है कि, ऋग्वेद अपने वर्तमान रूप में कमसे

कम छटी शताब्दी ईसा के पूर्व से जैसा का तैसा चला आता है। पहला पुराण ग्रन्थ कृष्णद्वैपायन व्यास कृत होने से नवीं या दशवीं शताब्दी ईसा के पूर्व का होगा। वह अब लुप्त है किन्तु उसके कथन वर्तमान अट्ठारह पुराणों में वर्तमान हैं। सम्भव है कि महाभारत का आदिम रूप जन्य ही वह पुराण हो। विषय विवेचन में पौराणिक साहित्य का वैदिक साहित्य से बहुत कुछ अन्तर हो गया है, पर पुराण वैदिक साहित्य के ही समय से आरम्भ होने से मूलत: विषय विवेचन मे उसी के समान हैं। पहली शताब्दी के ग्रन्थ अमर कोष मे पुराण का जो लक्षण दिया हुआ है, वह अब १८ में से केवल विष्णु पुराण पर ही घटित होता है, शेष १७ पर नहीं। इससे समझ पड़ता है कि पहली शताब्दी के पीछे भी पुराणों में बहुत कुछ उलट फेर हुआ है। विद्वानों का विचार है कि बौद्धों के समय में पुराण ग्रन्थों को बड़ी क्षति पहुँची और गुप्त काल (चौथी से सातवीं शताब्दी) में नव सम्पादन द्वारा वे फिर से ठीक किए गए।

यहाँ पहले कोलो का समय था, जो नागों, वृक्षों और पहाड़ो को पूजते थे। उन्हें जीतकर द्रविड़ों ने स्वप्रभाव फैलाया। उनकी प्राचीनतम सभ्यता का विवरण सं० १९७९ से १९८४ तक की मोहंजोदड़ों और हड़प्पा की खुदाई से प्राप्त हुआ है। पुरातत्ववेत्ताओं ने हड़प्पा का समय ३३ वीं तथा मोहजोदड़ों का २८ वीं शताब्दी ईसा के पूर्व माना है। वहाँ का वर्णन कुछ वस्तुओं द्वारा ज्ञात हुआ है। लेख भी मिले हैं, किन्तु वह अभी तक पढ़े नहीं गये। विद्वानों को इस काल की योनि लिंग वाली मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं जो शिव पूजन से सम्बद्ध हैं। शिव पशुपति उस काल में भी थे, तथा उनकी ध्यान-मग्न मूर्तियाँ

भी हैं। सिंह वाहिनी देवी भी थीं। इसके पीछे आर्यों के आदि काल का समय आता है, जिसे सत्ययुग भी कह सकते हैं। यह पहले छः मन्वन्तरों का समय है, जिनके नाम हैं:-स्वायम्भुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत और चाक्षुष। इनमें कुल मिलाकर कम से कम ४५ नरेश एक दूसरे के पीछे हुए, अर्थात् २७ पहले में, १० छठवें में, तथा कम से कम आठ शेष चारों में। ऐतिहासिक लोग शताब्दी में छः राज्यों का पड़ता ठीक मानते हैं, जिससे सत्ययुग में ७५० वर्षों का समय आता है। पहले आर्यों के धार्मिक विचार कैसे थे, वह अकथित हैं। स्वारोचिष मन्वन्तर में कुछ मुनियों ने राजा सुरथ से मधुकैटभ सम्बन्धिनी वैष्णव विजय की कथा कही। चाक्षुष मन्वन्तर में राजा वेन शरीर वादी थे, जिससे उनकी कुछ ब्राह्मण प्रजा ने उनका वध कर डाला। हयग्रीव भी शरीर वादी कहे जाते हैं, किन्तु उनका समय एवं अस्तित्व अनिश्चित है। राजा बलि के पिता विरोचन इन्द्र के साथ प्रजापति के पास ज्ञानोपदेशार्थ गये थे। उन्होंने प्रजापति से शरीर वाद की शिक्षा ग्रहण करके उसे दैत्यों में चलाया। अधिक परिश्रम करके इन्द्र ने उन्हीं प्रजापति से उसके विपरीत उपदेश प्राप्त किया। * यह कथा चाक्षुष मन्वन्तर की है। चाक्षुष और अन्य ऋषियों के मंत्रों के अनुसार बलि का यज्ञ होता था पर वामन ने उनसे भी बढ़ी चढ़ी यज्ञ विधि कही, जिससे शुक्राचार्य आदि बलि के उपाध्याय निरुत्तर हो गये। यदि हम सत्ययुग का आरम्भकाल २७०० ईसा पूर्व के निकट मानें, तो उसका अन्तकाल १९५० ईसा पूर्व होगा।

इसी समय से वैवस्वत मन्वन्तर चलता है, जिसमें मनु

* देखिये छान्दोग्योपनिषत्।

से रामचन्द्र तक एक दूसरे के पीछे ३६ राजा हुए हैं, जिनका भोगकाल ऊपर के हिसाब से ६५० वर्षों के निकट होगा, अर्थात् इस त्रेतायुग का समय १६५० से १३०० ईसा पूर्व तक बैठता है। द्वापर युग में राम से युधिष्ठिर तक प्रायः १४ पीढ़ियाँ मिलती हैं। एक शताब्दी में ५ पुश्तों का पड़ता बैठने से यह द्वापर काल प्रायः २८० वर्षों का आता है, जिससे युधिष्ठिर का समय १०२० ईसा पूर्व के निकट पड़ता है। महाभारतीय युद्ध ६५० ईसा पूर्व के निकट माना जाता है, जो इस कथन से मिल जाता है। आदिम कलिकाल का समय ६१४ ईसा पूर्व से गौतम बुद्ध के उत्पत्ति काल ५६३७ ईसा पूर्व तक है। इसमें प्रायः डेढ़ दो सौ वर्षों तक पांडव वंश का साम्राज्य रहा और फिर मैथिलों का हुआ! बृहदारण्यकोपनिषत् में याज्ञवल्क्य ऋषि मैथिल सम्राट जनक से ज्ञानोपदेश पाते हैं। उसमें पांडव साम्राज्य का उत्कर्ष और पतन दोनों जनक के ही समय में कथित हैं। ऋग्वेद में ३३ देवताओं की स्तुतियाँ की गई हैं, जिनमें इन्द्र प्रधान हैं। देवताओं की स्तुतियों के साथ यह कहा गया है कि, ये ईश्वरीय शक्ति से ही सशक्त हैं। हिरण्यगर्भ, स्कम्भ, प्रजापति, विश्वकर्मन आदि नामों से ऋग्वेद में ईश्वर का सम्बोधन किया गया है।

ऋग्वेद ही पहला भारतीय ग्रन्थ है जिसमें ईश्वर का कथन है, किन्तु उसमें ब्रह्मा, विष्णु और शिव आदि ईश्वर नहीं हैं। अनन्तर यजुर्वेद तथा अथर्व वेद में हम शैव ईश्वरत्व पाते हैं। यहाँ तक वैष्णव ईश्वरत्व का पता नहीं है। उसके पीछे दक्ष नामक किसी प्रजापति के यहाँ यज्ञ हुआ, जिसमें शिव को देवताओं के साथ यज्ञ भाग न मिला, किन्तु जब उनके द्वारा विष्णु सहित सब देवता पराजित हुए तब से मिलने लगा। इससे प्रकट है कि, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद के

जिन भागों में शैव ईश्वरत्व कथित है, वे राम के समय से पीछे हैं। उधर राम द्वारा अनादृता उमा केनोपनिषत् में देवसमाज में ईश्वर की शुद्ध व्याख्या करती हैं तथा श्वेताश्वतरोपनिषत् में शैव ईश्वरत्व की महत्ता है।

यहाँ हम देख चुके हैं कि, औपनिषत् ईश्वर बहुत करके निर्गुण थे और जो कुछ सगुणत्व भी उनमें आरोपित है, वह भी अरूप ईश्वर में है। यहाँ ईश्वर के नियम दयामय हैं, किन्तु गज ग्राह की सी पुकार वह नहीं सुनता न नियमातिरिक्त दया ही करता है। इन ईश्वरीय विचारों से साधारण जनता प्रसन्न न रह सकी और लोकायत विचारों का चलन बढ़ने लगा। समष्टि का हितकारी परमात्मा व्यष्टि की पुकार न सुनने वाला होने से अनादृत हो गया। स्वयं बृहस्पति ने चार्वाक् शास्त्र में शरीरवाद का प्रतिपादन करते हुए ईश्वरीय सत्ता तथा वेदों की महत्ता से इन्कार किया। धीरे धीरे अनीश्वरवादी भाव यहाँ तक बढ़े कि, कोई ईश्वरवाद सम्बन्धी विचार सुनने ही को तैयार न था, यहाँ तक कि कपिल, जैमिन, कणाद आदि महर्षियों ने अपने सांख्य, पूर्व मीमांसा तथा वैशेपिक शास्त्रों में इतर पाडित्य पूर्ण विचारों का समादर करते हुए भी ईश्वर को स्थान न दिया। इस प्रकार लोकायत विचारों से फैल कर अनीश्वरवाद दर्शनशास्त्र में भी प्रवेश पा गया। इसके बाद फिर सगुणवाद चला, जिसने खोई हुई लोक स्वीकृति पुनः प्राप्त करली। ये सब सगुण निर्गुण ब्रह्म वाली बातें बादरायण व्यास द्वारा गीता में कही गई हैं। उपनिषदों का नवीन विचारों से ग्रहणीय तत्व गीता में आ गया। इस प्रकार इसने लोक स्वीकृति के योग्य, यथासाध्य कम से कम स्थूलता लिए हुए, वैष्णव ईश्वरत्व एवं अवतारवाद से गर्भित हिन्दू-धर्म का एक

नवीन संस्करण हिन्दू जनता के सामने उपस्थित किया, जो सार्वभौम हुआ। उधर गीता के समान बौद्ध धर्म भी एक उच्च उपदेशक द्वारा चलाया गया था। फिर भी हमारी अपढ़ जनता ने इन दोनों उच्च मतों का मौखिक मान करते हुए भी देश में प्रचलित लोकायत विचारों के प्रभाव से इन दोनों के उपदेशों में दिनों दिन स्थूलता का अधिकाधिक समावेश किया। यहाँ तक कि बौद्ध मत महायान में परिणित हो गया तथा गीता पौराणिक उपदेशों में। उस समय यूनानी, शक, कुशान, हूण आदि विजयी नरेशों को हिन्दू बनाने वाले राजनीतिक लाभ के कारण संगठन के लाभदायक विचारों का मान करते हुए उन्हीं के द्वारा *ग्रहण योग्य स्थूल भावों की धार्मिक उच्चता मान ली* गई तथा हमारा हिन्दू-धर्म प्राचीन उच्च औपनिषत् निर्गुण भावों का केवल मौखिक मान करते हुए अवतार, तीर्थ, आदि के आदर में भी बढ़ा। ये समाज के लिए लाभदायक न हुए और समय पर ईसाई तथा मुसलमान मतों में हमारी जनता के भाग जाने लगे, क्योंकि तर्क हीन विश्वासी मत पाश्चात्य तर्कों के आगे ठहर न सका। अतएव समाज के उच्च भागों के लिए प्राचीन अथच परम श्रेष्ठ औपनिषत् मत को सामने रखना आवश्यक हुआ। यहाँ हमने यह धार्मिक विकास बहुत ही थोड़े शब्दों में दिखलाया है। इन कथनों से निर्गुण, सगुण ब्रह्म अथच इतर ईश्वरीय भाव तथा उनका विकास सुगमता पूर्वक हृदयंगम हो सकेगा। अवतार के अतिरिक्त त्रिदेव का भाव बौद्ध त्रिरत्न के तुक पर यों उठा कि शिव विनाशक तथा विष्णु पालक थे ही, सो उत्पादक की आवश्यकता प्रतीत हुई, जिससे ब्रह्मा का भाव उठा। समय पर बौद्ध त्रिरत्न के प्रभाव से ही शायद ईसाई Trinity चली।

हिन्दू धर्म के आठ युग

भारतीय इतिहास के प्राचीन विभागों के समय अभी दृढ़ता पूर्वक नियत नहीं हुए हैं। कई प्राचीन प्रथानुयायी हिन्दू अपने प्राचीन इतिहास को दूर से दूर तक ले जाने में ही उसकी महत्ता समझते हैं और घटनाओं को निकट वर्णन करने वालों से अप्रसन्न भी हो जाते हैं। उधर ऐतिहासिकों का विचार है कि जब तक किसी घटना की प्राचीनता पूर्ण रूपेण प्रमाणित न हो तब तक उसे निकट ही मानना सिद्धान्तानुकूल है। हम इस लेख में ऐतिहासिकों द्वारा माने हुए विचारों के ही अनुसार चलेंगे। आशा है कि धार्मिक महानुभाव हमारी इस धृष्टता को क्षमा करेंगे।

प्रथम युग—वेद-पूर्व का हमारा धर्म

(तैंतीसवीं से इक्कीसवीं शताब्दी ईसा पूर्व तक)

वेद पूर्व वाली भारतीय घटनाओं का हाल पहले बहुत कम ज्ञात था, किन्तु सन् १९२२ से १९२७ पर्यन्त हड़प्पा (पंजाब) तथा मोहंजोदड़ो (सिन्ध) में जो खुदाई हुई थी उस से प्रचुर मसाला प्राप्त हुआ है। आर्यों के पूर्व यहाँ तीन प्राचीन जातियों का निवास था, अर्थात् कोल, द्राविड़ और नागों का। सब से प्राचीन भारतीय कोल ही थे, जो उत्तर पूर्वी भारत से फैले। भील और सन्थाल कोलों की ही शाखायें हैं। ये लोग गिरि और तरु का पूजन करते थे। इनके आयुध पत्थर और हड्डी के थे। कोल वीर, चतुर, प्रसन्न चित्त, आलसी और सन्तोषी थे। इनमें विवाह का प्रचार परम प्राचीन काल

में न था। आज कल भारत में प्रायः तीस लाख कोल हैं। वेदों में इनका नाम नहीं आया है किन्तु महिष, कपि (वानर) मग, राक्षस, यातुधान, व्रात्य, महावृष, मूजवन्त, वाल्हीक आदि अनार्य जातियाँ वेदादि में लिखी हुई हैं जिनमें से कुछ कोल होंगी और कुछ द्राविड़। मत्स्य पुराण के अनुसार आदिम काल में निम्न लिखित जातियाँ भिन्न भिन्न स्थानों में बसी थीं:- दैत्य दानव (श्वेत पर्वत या सफेद कोह पर) देवगण (सुमेर [पामीर] पर), राक्षस, पिशाच और यक्ष (हिमालय पर), गन्धर्व और अप्सरस (हेम कूट [कराकुरम] पर), नाग और तक्षक (निषध [निस्सा पहाड़] पर), ऋषि (नीलाचल पर) और पितृ (शृंगवान् पर्वत पर, जो सुमेरु से पश्चिम कास्पियन समुद्र के निकट है)।

कोलों के पीछे द्रविड़ों का कथन आता है। इन्होंने कोलों को विन्ध्याचल के निकट हराकर दक्षिण का रास्ता लिया। खोंड़ और गोंड इनकी शाखायें हैं। आजकल प्रायः ५,७०,००,००० द्राविड़ भारत में हैं। ये लोग खेती और व्यापार करते, नगरों और ग्रामों में बसते, सूती कपड़े पहनते, स्वर्णालंकार धारण करते, और ताम्रायुधों का व्यवहार करते थे। ये भूमि, वृक्ष, सर्प आदि की पूजा करते और अपने देवताओं से डरते थे। कुछ योरोपियन विद्वानों की धारणा है कि आधुनिक भारत-वासियों में केवल काश्मीर, पंजाब और राजपूताना में असील आर्य लोग हैं। वे गंगा यमुना की घाटियों विहार आदि में आर्यों और द्राविड़ों का कुछ मिश्रण मानते हैं, गुजरात, सिन्ध और बम्बई में सीदियनों तथा द्राविड़ों का, नैपाल, भूटान, आसाम आदि में मंगोल मिश्रण का प्राधान्य, बंगाल, छोटा-

नागपुर और उड़ीसा में मंगोल द्राविड़ों का, और वायव सीमा प्रान्त में तुरष्क (तुर्की ईरानियों) का। इधर बौद्ध साहित्य का कथन है कि कोशल (अवध) में विशुद्ध अमिश्र आर्यों का निवास है। कोलों के कारण भारतीय प्राचीन समय कोलेरियन कहलाता है। नागों का मेल आर्यों से इस आधिक्य से हुआ कि अब इनका पृथक् अस्तित्व बहुत कम है। कुशानों को हरा कर इन्होंने नाग बल के विस्तार द्वारा आर्य सभ्यता की रक्षा की। देव मन्दिरों में पाषाण कारीगरी के साथ इन लोगों ने सर्प प्रतिमाओं का भी विशेष व्यवहार किया। कोल, द्राविड़ और नाग तीनों काली जातियाँ थीं। आर्यों के आने पर इन लोगों की कन्यायें आर्य पुत्रों से अधिकतापूर्वक व्याही गईं। द्राविड़ों का बैबिलोन से अच्छा व्यापार था। पिशाच लाली लिये हुये बहुत चिल्लाने वाली द्राविड़ जाति थी। दक्षिण में नागों की प्रतिमायें मानुष हैं न कि सर्पों की। ब्राह्मी भाषा द्वारा द्राविड़ों का बलूचिस्तान से सम्बन्ध है। इसी से बहुतों का विचार है कि द्राविड़ लोग वहीं से भारत आये किन्तु यह सम्बन्ध उनके भारत से बलूचिस्तान जाने से भी स्थापित हो सकता था। इनका कुटुम्ब पैतृक न होकर मातृक था।

हड़प्पा और मोहंजोदड़ो से जो सामान प्राप्त हुआ उससे द्राविड़ सभ्यता के विषय में बहुत कुछ हाल ज्ञात हुआ है। मिले वहाँ लेख भी, किन्तु वे अभी पढ़े नहीं गये हैं। जो ज्ञान अभी तक प्राप्त है वह वस्तुओं द्वारा ही है। हड़प्पा की सभ्यता का समय तैंतीसवीं शताब्दी बी० सी० (ईसा पूर्व) माना गया है और मोहंजोदड़ो का २८ वीं शताब्दी बी० सी०।

हाल बहुत ज्ञात हुआ है और उन वस्तुओं को हमने स्वयं देखा भी है, किन्तु कथन यहाँ धार्मिक विषयों का ही होगा। वहाँ सिंहवाहिनीमातृदेवी बहुतायत से मिली हैं। त्रिनेत्र शिव के तीन सर हैं, त्रिशूल है। योग का भी विचार था। शिव के निकट हाथी, चीता, गैंडा और भैंसा हैं। नाग उनकी पूजा करते हैं। ये दो मृग चर्मों पर बैठे हैं। पशुपति वे उस काल में भी थे। लिंग और योनि के पूजक थे। वर्तमान अर्घों के समान योनि लिंग वाले अर्घे मिले हैं। सींग उन लोगों में देवत्व का चिन्ह है। हिन्दुओं में पीछे शिव, मातृदेवी, कृष्ण, नाग, जानवर, वृक्ष, लिंग, पाषाण, योग, शक्ति, संसार-भक्ति आदि के जो पूजन विधान उठे, उन के मूल इन में पाए जाते हैं। पांच सौ नब्बे मोहरें मिली हैं जिन सबके फोटो लिये जा चुके हैं।

यह समय सत्ययुग का माना जा सकता है। पुराणों के अनुसार इस युग में स्वायम्भुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत और चाक्षुष मन्वन्तरों का समय था। इन छओं मन्वन्तरों में कुल मिलाकर कम से कम ४५ राजा एक दूसरे के पीछे हुए। जिनमें से ४१ के नाम ही दिये हुए हैं। अतएव यह समय प्राय: ७५० वर्षों का था। ये सब राजे स्वायम्भुव मनु के ही वंशधर थे। स्वायम्भुव वंशी ऋषभदेव जैनों के प्रथम तीर्थंकर (आदिनाथ) माने जाते हैं। उस काल तक हिन्दू मत ही भली भाँति स्थापित न था, सो प्रतिकूल मत प्रवर्तक जैन सिद्धान्तों का चलना कुछ अनोखी सी बात है। फिर भी पुराणों में लिखा है कि बुढ़ापे में ऋषभ देव सांय फांय बकने लगे थे जिससे इनके द्वारा कुछ ऐसे धार्मिक विचारोत्पादन की झलक मिलती है जो जैनों को ग्राह्य तथा औरों को अग्राह्य थे। इनके

पीछे महाराजा भरत द्वारा तप साधन का वर्णन आया है। चाक्षुष मनु कुछ वैदिक ऋचाओं के ऋषि भी हैं जिससे इसी काल से वैदिक रचना का भी आरम्भ हो जाता है। बेन ने प्रजा द्वारा राजा के पूजे जाने का धर्म चलाना चाहा, जिससे इनकी गुण-कर्मानुसार कुछ ब्राह्मण प्रजा ने इनका वध करके इनके पुत्र पृथुवैन्य को राजा बनाया, जिन्होंने बहुत उत्तमता पूर्वक धर्मानुसार राज्य किया। चाक्षुष मन्वन्तर के प्राय. अन्त में राजा बलि ने यज्ञ किया जहाँ जाकर भगवान वामन ने तत्कालीन वैदिक विधि से बढ़ी चढ़ी याज्ञिक विधि बतलाकर मान पाया। वराह, नृसिंह और वामन के कार्य इसी मन्वन्तर में कथित हैं। समुद्र मन्थन भी इसी मन्वन्तर में हुआ। अनन्तर दैत्य, दानवों आदि का बल एकत्र करके प्रह्लाद ने इन्द्र की पराजय की जिससे वे दक्षिण से हट कर काश्मीर के उत्तर पश्चिम इन्द्रालय में जा बसे तथा ईरान में दैत्य दानवों का राज्य हो गया। ऐतिहासिकों का विचार है कि पारसियों से ही ईरान (फ़ारस) में हार कर आर्य लोग इन्द्रालय होते हुए भारत आये। बेन, हयग्रीव तथा प्रह्लादात्मज विरोचन शरीर वादी थे। छान्दोग्योपनिषत् के अनुसार विरोचन ने स्वल्प अध्ययन के कारण यह झूठी शिक्षा स्वयं प्रजापति ऋषि से पाई। हयग्रीव द्वारा वेदोपहरण का असफल प्रयत्न कथित है। प्रह्लाद के पिता हिरण्यकशिपु भी शरीर-वादी थे। विरोचन ने शरीर-वाद दैत्यों में चलाया, ऐसा छान्दोग्य में कथित है। वेद में आर्यों ने द्राविड़ों के किसी धार्मिक विश्वास के प्रतिकूल कुछ न कह कर केवल लिंग पूजन को ऋग्वेद में दो बार अनुचित ठहराया। लिंग योनि से मानुष शरीर निर्माण के कारण ही शायद द्राविड़ों ने प्राचीन समय में इन्हें बहुत महत्तायुक्त समझ

कर पूज्य ठहराया हो। फिर भी द्राविड़ लोग यह पूजन करते ही रहे और अन्त में इनके हिन्दू हो जाने तथा आर्यों के साथ विशेष मैत्री वृद्धि के कारण यह वाम-मत पूर्ण पूजन विधान उनमें भी प्रचलित होकर विशुद्ध आर्य धर्म में एक प्रकार से आंशिक स्थान प्राप्त कर सका।

द्वितीय युग (वैदिक धर्म)

(२१ वीं से दशवीं शताब्दी ईसा पूर्व तक)

ऋक, यजुष्, साम और अथर्वन् नामक चार वेद हैं। सब से प्राचीन ऋग्वेद है जिसके प्राचीनतम प्रणेता उपर्युक्त चाक्षुष मनु (इक्कीसवीं शताब्दी बी० सी० के) थे तथा सब से नवीन ऋषि नारायण, सारीसृक, द्रोण, स्तम्ब मित्र और जरितर महाराजा युधिष्ठिर के समय वाले प्रायः दसवीं शताब्दी बी० सी० के थे। सामवेद का बृहदंश ऋग्वेद से ही लिया गया है। यजुर्वेद ऋक् से कुछ बाद चलकर सौ दो सौ वर्ष पीछे जाकर पूरा हुआ तथा अथर्व ऋक् से चाहे कुछ पहले से भी चलकर यजुष् के प्रायः साथ ही समाप्त होता है। कृष्ण-द्वैपायन व्यास ने राजा जनमेजय के समय (नवीं शताब्दी बी० सी०) में वेदों का सम्पादन करके उन्हें उनके वर्तमान रूप दिये। इनमें पीछे एक मात्रा की भी घट बढ़ नहीं हुई। ऋग्वेद में तैंतीस देवताओं का मुख्य पूजन है, अर्थात् बारह आदित्य, एकादश रुद्र, आठ वसु तथा इन्द्र और अग्नि का। विष्णु आदित्यों में हैं। आपकी संज्ञा उपेन्द्र की है। आप पुनीत हैं परन्तु इन्द्र इनसे अधिक पवित्र हैं (सूक्त १५६, मंडल प्रथम)। तो भी इनका परमपद है। रुद्र देवताओं में परम श्रेष्ठ

हैं किन्तु मुख्य देवताओं से इनका स्थान पीछे है। हानि न करने की इनसे प्रधान प्रार्थनायें होती है। हिन्दू धर्म वेदों को अपौरुषेय तथा अनादि मानता है, किन्तु स्वयं वेदों से उनका किसी समय में बनना प्रकट है। यथा—

'इस नई विनती से मैं तुझे प्रसन्न करता हूँ' (मं० १, सूक्त ६२ वां)। 'बड़े ध्यान पूर्वक बनाये हुए मन्त्र अग्नि को सुनाओ, (मं०१, सूक्त ७६ वां)। दशवें मंडल में स्वर्ग का वर्णन आया है। ८१ वें सूक्त में जगदुत्पत्ति और एक ईश्वर के कथन हैं। ८२ मे ईश्वर पिता है। उसी ने सब कुछ बनाया है। एक ही विश्वकर्मन् कर्ता है वह देवताओं तथा असुरो से पहले का तथा अज है। ६० वें में पुरुषसूक्त है जिसमे ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य तथा शूद्र की उत्पत्ति उसी ईश्वर से कथित है। यह विवरण दार्ष्टांतिक है। सामवेद में रसानाम्नीक एक नदी है जो पृथ्वी के चारों ओर बहती है। ईश्वर का वर्णन विश्वकर्मन्, स्कम्भ प्रजापति और पुरुष के नामों से आया है। मानुष जीवन अधिकतर सौ वर्षों का कहा गया है किन्तु कहीं कहीं ११६ और १२० वर्षों का भी है। यजुर्वेद मे ४० अध्याय हैं। १६ वें में शतरुद्रिय का विषय है जहाँ शिवरुद्र ईश्वरीय पद को पहुँच गये हैं। (यही दशा अथर्वन में भी है।) उन्नति कुछ विष्णु की भी हुई है किन्तु शिव के समान नहीं। ३० वें तथा ३१ वें अध्यायों में नरमेध का कथन है। शतपथ ब्राह्मण के देखने से प्रकट होता है कि इसमें मनुष्य का बलिदान नहीं दिया जाता था वरन् मानुष पुतले का। ३५ वें अध्याय में पितृयज्ञ का विषय है। ४० वां अध्याय एक उपनिषत् है जिसमें ईश्वर का विवरण है। ऋग्वेद की अपेक्षा यजुष् में विष्णु का वर्णन विशेष है।

रुद्र--शिव वहीँ शंकर, महादेव आदि नामों से भी पुकारे जाते हैं। ईश्वर का वर्णन बहुत स्पष्ट है। अच्छा पुरोहित वह है जो स्वयं ऋषि हो और ऋषि सन्तान भी। ऋग्वेद में ऋषिगण प्रकृति देवी पर मुग्ध रहे किन्तु अथर्वन् में वे टोना टनमनो आदि पर बहुत विश्वास करते थे और भूत प्रेतों आदि का भय मानते थे। ऋग्वेद में आदिम हिन्दू मत का चित्र खिचा हुआ है तथा अथर्वन् में समय के साथ उसका कुछ विकसित रूप भी दीख पड़ता है। कहा गया है कि शूद्र अपनी गुरुता से ब्राह्मण का अपमान न करे। यदि दस अब्राह्मण किसी स्त्री को चाहते हों और एक ब्राह्मण उसे चाहे,तो वह उसी की होगी। यों ब्राह्मण की प्रशंसा है। विराज के वर्णन में ईश्वरांश का कथन है। स्त्री के विषय में कहते हैं.—

"तुम घरकी मालकिन हो। सबके ऊपर आज्ञा चलाओ, पति से अलग न रहो और हँस खेल कर रहो, पति के बाप, भाई और माता को प्रसन्न रक्खो,सब वस्तुओं को ढंग से रक्खो" इत्यादि। आदि पुरुष का वर्णन आया है। सूर्य, इन्द्र, अग्नि आदि में भी ईश्वर का भाव कहा गया है।

वैदिक कुटुम्ब पैतृक था, मातृक नहीं। मेघों के राजा इन्द्र और अग्नि की प्रधानता होते हुए भी यह प्रकट है कि आर्यों ने इनकी पूजा नहीं की, वरन् इन सबके अन्तर्गत जो एक शक्ति है उसी को प्रधान माना। उनका देश सप्त-सिन्धु कहलाता था। दसवें मंडल में विश्वेदेवस् का प्रभाव बढ़ा हुआ है जिनमें संसार के सारे देवताओं का विचार पा जाता है। वैदिक देवताओं में इन्द्र, अग्नि, सूर्य और वायु की प्रधानता है।

विष्णु और शिव साधारण देवता (ऋग्वेद में) हैं जिन्होंने पीछे भारी ख्याति पाई। प्रतिमाओं का वर्णन वेदों में नहीं पाया जाता। वह विशेषतया सूत्रकाल से चलता है। प्रजा सामर्थ्यानुसार स्वेच्छा से कर देती थी। जारकर्म बहुत कम था। पराजित देश को तत्काल अभय दान किया जाता था। भ्रातृ न होने पर कन्या का प्रायः पुरुषों के समान नाम रक्खा जाता था। अग्निहोत्रादि के लिये कभी न बुझने वाली स्थिर अग्नि का विधान वैदिक काल में हो चुका था। दसवें मंडल में आध्यात्मिक विचार भी आने लगे थे। ऋग्वेद में प्रार्थनायें तो देवताओं से ही की जाती हैं किन्तु वे केवल ईश्वरीय शक्ति से शक्तिमान समझे जाते हैं। विश्वामित्र के तृतीय मंडल (सत्र ५४ वें) से ही ईश्वरीय विचार चल पड़ा था। वैदिक आर्यों ने ईश्वर को देखा अवश्य किन्तु अपने विजयोल्लास पूर्ण जीवन में विशेष ध्यान जगत्पिता पर न रख कर जगत् पर ही रक्खा। वेदों में प्रजापति तो हैं किन्तु ब्रह्मा नहीं। पीछे वही ब्रह्मा होगये।

तृतीय युग (ब्राह्मण और उपनिषत्काल)

(दसवीं से छठी शताब्दी ईसा पूर्व तक)

ईश्वरीय विचार

यजुर्वेद के विषय में मिलते हुए ब्राह्मण ग्रन्थों के विषय हैं। ये ग्रन्थ पहले अधिक थे किन्तु अब केवल ७० मिलते हैं। प्रत्येक ब्राह्मण का अन्तिम अध्याय एक एक उपनिषत् है। इन ७० के अतिरिक्त भी सैकड़ों उपनिषत् किसी ब्राह्मण से सम्बद्ध नहीं हैं। उनकी संख्या ११६४ हैं, जिनमें से १५० प्राचीन हैं। इनमें भी दस प्रधान हैं। बारह तेरह आरण्यक ग्रन्थ भी हैं

जिनके विषय ब्राह्मण और उपनिषत् दोनों से मिलते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में एक प्रकार से वेदों की व्याख्या की गई है। ये कर्म-कांड प्रधान हैं तथा उपनिषदों में ज्ञान कांड है। आरण्यकों में वानप्रस्थाश्रम सम्बन्धी नियम हैं। उपनिषदों में बृहदारण्यक और छान्दोग्य सबसे पुराने हैं। जैमिनीय, केन और काठक के अतिरिक्त कोई उपनिषत् बुद्ध से पुराना नहीं है। यास्क कृत निरुक्त प्राय: ८०० या ५०० बी० सी० का है। ऋग्वेद में विश्वा-मित्र केवल ऋषि हैं किन्तु पंचविंश और ऐतरेय ब्राह्मणों में राजा जह्नु के वंशधर भी। वेदानुक्रमणी में कई राजन्य वेदर्षि भी हैं। जनक विदेह, अश्वपति कैकय, काशिराज, अजातशत्रु और पांचाल राज जैवलि प्रवाहण कुछ ब्राह्मणों को ज्ञानोपदेश करते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों के सारांश का नाम कल्पसूत्र है। ब्राह्मण ग्रन्थ भी अनादि और अपौरुषेय हैं। षड्विंश ब्राह्मण में मूर्ति का कथन है। इसमें देवकी-पुत्र कृष्ण एक विद्वान् माने गये हैं। कई ब्राह्मण ग्रन्थों में बौद्ध मत का कुछ प्रभाव दीख पड़ता है। शतपथ ब्राह्मण ऐसे मुख्य ग्रन्थों में सबसे पीछे का है। इसमें विष्णु की महिमा कुछ बढ़ी हुई है। वे नारायण के रूप में एक स्थान पर ईश्वर और दूसरे में ईश्वर के पुत्र हैं। यह ब्राह्मण विशेषतया याज्ञवल्क्य कृत है। इसमें महाप्रलय वाली मछली अवतार नहीं कही गई है। विष्णु को वामन कहा गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों में मुख्यतया विधि, अर्थवाद, निन्दा, प्रशंसा, पुराकल्प और परकृति के कथन हैं। सारे ब्राह्मण ग्रन्थों में एक प्रकार का साम्य है। पंचविंश और तैत्तिरीय ब्राह्मण सब से पुराने तथा उनके पीछे के जैमिनीय कौशीतकि और ऐतरेय हैं। गोपथ और सामवेद के छोटे छोटे ब्राह्मण शतपथ से भी नये हैं। ब्राह्मण में कुछ गाथायें पद्य में भी हैं। कथित शतपथ

ब्राह्मण के बहुत पहले हुए। उसमें इनके शिष्य आसुरि का भी कथन है। कपिल बुद्ध के पूर्ववर्ती थे।

ब्राह्मण काल में वर्तमान विश्व विद्यालयों की भाँति परिषद् नाम्नी संस्थायें स्थिर हुईं जिनमें गुरुद्वारों से निकले हुए प्रवीण विद्यार्थी अध्ययन करते थे। इनमें बड़े बड़े आचार्य अपने अपने प्रिय विषयों की शिक्षा देते थे। आरण्यकों में बृहदारण्यक सबसे प्रधान है। यह उपनिषत् भी समझा जाता है। उपनिषदों को वेदान्त कहते हैं। दशोपनिषदों में ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुंडक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, बृहदारण्यक और छान्दोग्य की गणना है। कौशीतकि और श्वेताश्वेतर की भी प्रधानता है। मोक्ष के लिए ज्ञान और उपासना नामक दो मार्ग हैं। ज्ञानी परमात्मा को सभी पदार्थों में देखते हैं। जिनकी बुद्धि इतनी दूर न पहुँचे, वे वेद विहित कर्मों को करें। कठ की प्रथम वल्ली में जीव का अस्तित्व सिद्ध किया गया है। केन में ईश्वर की शक्ति समझाई गई है। मांडूक्य में जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय अवस्थाओं का वर्णन है और ओम् की महिमा कही गई है। जैसी महिमा अब राम नाम की है वैसी ही पहले ओम् की थी।

शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष को हमारे यहाँ वेद का षड्ङ्ग कहते हैं। इन सबके नाम मुंडक में आये हैं। अतएव इनकी स्थापना ब्राह्मण काल में हो गई थी। उपनिषदों का सदुपदेश मुख्यतया तर्कावलम्बी ईश्वरवाद है। सत्यता की सबसे बड़ी महिमा है। उसके मनोगत कराने को सत्य-काम-जाबाल का उदाहरण छान्दोग्य में है। इसमें

माता को दुश्चरित्रा मान कर अपना पितृहीन होना कह दिया किन्तु मिथ्या भाषण न किया। याज्ञिक अग्नि सब आर्यों के यहाँ जलती थी तथा दैनिक हवन होते थे। दैनिक पंच महायज्ञ में देव पूजन, पितृ पूजन, अतिथि पूजन, संसार पूजन तथा गृह-देव पूजन होता था। इस प्रकार अतिथि सत्कार हमारे यहाँ सभ्यता मात्र न होकर धर्म का अंग था। तैत्तिरीय उपनिषत् की एक शिक्षा का सार यहाँ लिखा जाता है:—

"सत्य बोलो, स्वकर्तव्य पालन करो, वेदाध्ययन को न भुलावो, वेद शिक्षण करते रहो, विवाह करके पुत्रोत्पादन करो, सत्य से मत हटो, लाभदायक पदार्थों को मत भुलावो, देवयज्ञ और पितृयज्ञ को मत भुलावो, मातृदेव, पितृदेव, आचार्यदेव तथा अतिथिदेव होओ, अनिन्दित कर्मों पर श्रद्धा करो इतरों पर नहीं, हमारे द्वारा किये हुए केवल उचित कर्मों पर श्रद्धा रक्खो, इतरों पर नहीं। धर्म विचिकित्सा होने पर सज्जनों के आचरणों को मान्य समझो।"

ब्राह्मणकाल में पुरुष, विराज, विश्वकर्मन, स्कम्भ आदि नामों से ईश्वर का पूजन विधान उठ कर पुष्ट तो हुआ किन्तु रीतियों का ऐसा विस्तार हुआ कि उन्होंने धर्म का आसन ग्रहण किया, जिससे ऊब कर लोगों ने उनके शिथिलीकरणार्थ वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम के विचार चलाये, जिनसे यह सिद्ध किया गया कि निरग्निक सत्कर्मी का दर्जा अग्निवान् से भी ऊंचा है। आरण्यकों का विधान इसी लिए उत्पन्न हुआ जान पड़ता है। इसी समय में जीवात्मा का अस्तित्व सिद्ध किया गया तथा आवागमन के विचार दृढ हुए। कार्मिक

सिद्धान्तों की भी स्थापना एवं दृढ़ता इसी शुभ काल में हुई। माया का विचार पहले पहल श्वेताश्वतर में आया। संसार माया है और ईश्वर मायी। कठोपनिषत् में समझाया गया कि बिना सांसारिक प्रलोभनों को छोड़े कोई ब्रह्म विद्या को प्राप्त नहीं हो सकता। ऐतरेय और शतपथ मुख्य ब्राह्मण ग्रन्थ हैं। पाश्चात्य पंडितों ने उपनिषदों के समयानुसार चार भाग किये हैं। पहली प्राचीनतम कक्षा में बृहदारण्यक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय और कौशीतकि रक्खे गये हैं। प्रश्न, मुंडक और केन के कुछ भाग इन्हीं के पीछे आते हैं। दूसरी कक्षा में कठ, ईश, श्वेताश्वतर और महानारायण हैं तथा तीसरी में मैत्रायणीय अथच माण्डूक्य, और चौथी में अथर्ववेदीय उपनिषत् गए। इस काल तक वैष्णव भाव कम था और शैव की प्रधानता थी।

बृहदारण्यक में याज्ञवल्क्य ने सम्राट् जनक से संवाद में सिद्ध किया है कि ईश्वर का अन्वयात्मक (गुणारोपण वाला) विचार असिद्ध है, क्योंकि उसका शुद्ध वर्णन व्यतिरेक (वह क्या नहीं है) द्वारा ही किया जा सकता है। उपनिषदों में परमात्मा अस्पृश्य, अपरतन्त्र, अचल (बृहदारण्यक), अकाय, अव्रण, अस्नाविर (नस नाड़ियों से परे) (ईशोपनिषत्), अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अरस, अनादि, अनन्त (कठोपनिषत्), अच्छाय, अशरीर, अलोहित (प्रश्नोपनिषत्) अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण, अचक्षु, अश्रोत्र, अपाणिपाद, अमूर्त, अज, अप्राण, विरज, निष्कल (कला रहित), अमन, अक्षर (मुंडक) आदि है। अन्वयवाची शब्दों में वह शुद्ध, आँख की आँख, कान का कान, मन का मन (ईशोपनिषत्) नित्य, विभु, सर्वगत, सूक्ष्म, भूतयोनि, शुभ्र,रुक्म वर्ण, अचिन्त्य

रूप, सूक्ष्मातसूक्ष्मतर, ज्योतिषांज्योति, तमसः पर, परतः पर (मुंडक) आदि है।

अब तक आर्यों में जाति व्यवस्था कर्मज थी न कि जन्मज। भार्गवों का हैहयों से युद्ध, राजन्यों का ऋषियों से पहला धार्मिक झगड़ा हुआ जिसमें परशुराम अन्त में विजयी हुए। उधर वशिष्ठ ने धर्म की आड़ में त्रिशंकु को पदच्युत करके म्लेच्छों की सहायता से उसके राज्य पर पुरोहित के रूप में अधिकार किया। तब राजन्य विश्वामित्र ने ब्राह्मण होकर जातीयता की वृद्धि द्वारा वशिष्ठ को हराया। अनन्तर हैहयों ने भी म्लेच्छों की सहायता से बलवर्द्धन किया, किन्तु अग्नि और्व, भार्गव, भारद्वाज (ऋषियों) तथा प्रतर्दन और सगर (राजाओं) के प्रयत्नों से म्लेच्छों का प्रभाव गिरा। ये युद्ध तथा पतनोत्थान वैदिक समय के थे। इधर ब्राह्मण काल में राजन्यवर्ग ने पहले तो कर्मकांड से अंशतः अश्रद्धा प्रकट करके स्वप्रभाव तथा ब्राह्मण उपदेशकों की सहायता से ज्ञानकांड की महिमा स्थापित की और पीछे संशयवाद को भी जन्म दिया।

संशयवाद

तर्क साध्य अथच परम शुद्ध उपर्युक्त ईश्वरीय विचार अपनी शुष्कता के कारण पंडितों से इतर साधारण जनता को पसन्द न आ सका। वे गज-ग्राह की पुकार सुनने वाला व्यष्टि हितकारी ईश्वर भी चाहते थे, तथा केवल आत्मीय उच्चभाव पूर्ण मानव जाति के समष्टिमूलक लाभ पहुँचाने वाले ईश्वर को हृदय हीन समझते थे। ऐसा व्यक्तिगत प्रेमी

ईश्वरीय विचार न पाकर वे ईश्वर से ही विमुख हो गये और संसार में लोकायत विचार चलने लगे जिनका कुछ कुछ दार्शनिक विवरण महात्मा बृहस्पति ने अपने चार्वाक शास्त्र मे किया। इनका कुछ चलन अवैदिक काल में भी था किन्तु विशेप प्रभाव ब्राह्मण काल में हुआ। इसका कोई ग्रन्थ अब प्राप्त नहीं है और केवल विरोधियों द्वारा कथित कुछ भद्दे चार्वाक सिद्धान्त चलते हैं। इसकी तत्कालीन भारी लोक-स्वीकृति से समझा जाता है कि मूलतः यह ऐसा भद्दा न होगा, जैसा कि अब दिखलाया जाता है। फिर भी किसी श्रेष्ठ विवरण के अभाव मे यह जैसा कुछ मिलता है वैसा नीचे लिखा जाता है।

चार्वाक सिद्धान्त

(१) कष्टप्रद कार्य मत करो। (२) हिंसा न करो। (३) भाग्य नहीं पुरुषार्थ मुख्य है। आलसी भाग्य पर भरोसा करते हैं। आत्म निर्भरता ही शक्ति है जिससे मोक्ष भी मिलती है। (४) परमेश्वर अथवा अन्य लोक अमान्य हैं। (५) वेद और ईश्वर में विश्वास मत करो क्योंकि वे कृत्रिम और धोखेबाज हैं। (६) बुद्धि पर सदा चलो क्योंकि उसके बिना धर्म नही है। (७) आत्मा अमर तथा क्षिति, जल, पावक और समीर से बना है, आकाश से भी नहीं। (८) केवल प्रत्यक्ष प्रमाण है।

इस सिद्धान्त के कई विचार सुगमता पूर्वक खंडित हो सकते हैं किन्तु संसार में साधारण जनता के प्रभाव से मान इनका इतना विशेप हुआ कि शैव ईश्वरत्व की नौका डूबती

हुई देख पड़ी। लोग परमेश्वर, परब्रह्म, निष्कल आदि विचारों को मानते न थे तथा अपरब्रह्म, सकल, ईश्वर, आदि के विचार दृढ़ता पूर्वक सामने न थे, जिससे अनीश्वरवाद चलने लगा। परम प्राचीन आचार्य कपिल और जैमिनि भी अपने सांख्य तथा पूर्वमीमांसा में ईश्वर को स्थान न दे सके, यद्यपि अन्य प्रकार से हिन्दू शास्त्रों का समर्थन करते रहे। कपिल की प्राचीनता ऊपर दिखलाई जा चुकी है। जैमिनि का कथन पाणिनि से पहले वाले यास्क ने किया है। न्यायकार गौतम भी प्राचीन ऋषि हैं। कणादि की अनीश्वरता दृढ़ नहीं है। पाँचवीं शताब्दी बी० सी० में बादरायण व्यास ने उत्तर मीमांसा लिखी। मोटे प्रकार से पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा का वही सम्बन्ध है जो ब्राह्मण और उपनिषत् ग्रन्थों का है। जैमिनि वेदों का महत्व तो स्वीकार करते हैं किन्तु उनके अनादित्व का नहीं। गौतम ईश्वर को तो मानते हैं किन्तु उसकी सृष्टि शक्ति को नहीं। इस प्रकार ब्राह्मण काल में हम न केवल परमात्मा का परमोत्कृष्ट निरूपण, पाते हैं, वरन् शंकावाद के सहारे जनता द्वारा उसका त्याग भी देखते हैं। सारांशतः वैदिक समय में प्राकृतिक शक्तियों का व्यक्तीकरण, तथा एक प्रकार से देवताओं का बहुलीकरण हुआ, किन्तु ब्राह्मण काल में उस बहुलीकरण से एकीकरण का भाव बड़ी दृढ़ता के साथ दिखलाया गया। वैदिक रचनाओं में साहित्य की प्रधानता है तथा ब्राह्मणिक में तर्क पूर्ण दर्शन की। परमेश्वर के साथ हम अग्नि के पूजन में यज्ञों का भी भारी चलन इन दोनों समयों में पाते हैं, किन्तु उन्हीं के साथ रीतियों के वलवर्द्धन से दर्शन तथा शंकावाद की भी उत्पत्ति देखते हैं। ब्राह्मण काल वाले ऋषि गण बाहरी प्रकृति पर मुग्ध होना

छोड़ कर उसके निगूढ़ रहस्यों में घुस गये तथा परम शुद्ध ईश्वरीय विचार दृढ़ता पूर्वक सामने लाये जो साधारण जनता के लिये भारी उच्चता के कारण उसी काल अग्राह्य भी हो गया। फिर भी जहाँ वैदिक ऋषि जीवन के उल्लास में मग्न है, वहीं वेदान्तवादी दुःखवादी जीवन विचार की जड़ जमाता है जिससे मुक्ति के रूप में संसार से छुटकारा पाना ही परमोत्कृष्ट लक्ष्य प्रमाणित किया गया। मुक्ति वाले विचारों की जड़ इसी काल में जमती है।

चतुर्थ युग (सूत्रकाल में धार्मिक विचार)

(७०० से १०० ई० पू० पर्यन्त)

सूत्रों का विवरण

अब तक हमारा वैदिक साहित्य लिखित न होकर केवल कंठस्थ था। इसलिये स्मरण शक्ति पर विशेष बोझ पड़ने से सूत्र साहित्य की रचना होने लगी, जिसमें तार द्वारा भेजे हुए समाचारों से भी कम शब्दों में भाव प्रदर्शन का नियम चला। सूत्र तीन प्रकार के हैं, अर्थात् श्रौत, धर्म और गृह्य। कुछ सूत्र पाणिनि के पीछे लिखे गये और अधिकांश इनसे बहुत पूर्व। वैयाकरण पाणिनि का समय अब पाँचवीं शताब्दी बी० सी० सिद्ध किया गया है। श्रौत सूत्रों में प्रधान याज्ञिक विधियों के साँगोपांग वर्णन हैं। गृह्य सूत्रों में गृहस्थों के ऐहिक तथा इतर कर्तव्यों के विधान हैं। धर्म सूत्रों में सामाजिक एवं न्याय सम्बन्धी नियमों के कथन हैं। इन्हीं से बढ़कर समय पर स्मृतियों

का निर्माण हुआ। आपस्तम्ब की भाषा पाणिनीय व्याकरण से पहले की समझी जाती है। बोधायन भी चौथी शताब्दी बी० सी० से पहले के हैं। ये दोनों दाक्षिणात्य ऋषि थे किन्तु थे सर्वमान्य। इससे प्रकट है कि दक्षिण में आर्य सभ्यता इनसे दो तीन शताब्दी पहिले फैल चुकी थी, यदि ऐसा न होता, तो इनके ग्रन्थों में प्रान्तीयता आ जाती और वे उत्तरी भारत में भी सर्वमान्य न होते। बोधायन ने भारत को तीन भागों में बाँटा है। आप गङ्गा, यमुना वाले देश को सर्वोत्कृष्ट कहते हैं, दक्षिणी तथा पूर्वी विहार, दक्षिणी पंजाब, सिन्ध, गुजरात, मालवा और दक्षिण को दूसरे दर्जे का, तथा बंगाल, उड़ीसा और ठेठ दक्षिण को तीसरे दर्जे का। ये श्रेणियाँ वहाँ आर्य सभ्यता के प्रचारानुसार थीं। दूसरी श्रेणी के लोग मिलित जाति के कहे गये हैं। जो कोई पंजाब के आरट्ट, दक्षिण के कारस्कर, बंगाल एवं उड़ीसा के पुंड्र, बग, और कलिंग तथा दक्षिणी पंजाब के सौवीर और प्रानन लोगों में कहीं गया हो, उसे पुनीत होने के लिये इनके अनुसार यज्ञ करना पड़ेगा। बोधायन निम्नलिखित स्थानों के निवासियों को मिश्र जातियों के बतलाते हैं:—

मुल्तान, सूरत, दक्षिण, मालवा, पश्चिमी बंगाल और विहार। बौद्ध ग्रन्थ कौशलों को शुद्ध अमिश्र जाति वाले मानते हैं। मोहञ्जोदड़ों के पीछे पहले पहल देव प्रतिमाओं के कथन सूत्रों में हैं, जैसे ईशान, मीढ़ुषी, जयन्त और क्षेत्रपति के। बोधायन धर्म सूत्र के कुछ भाग गौतम धर्म सूत्र पर अवलम्बित हैं और कुछ उनसे लिए भी गये हैं। गौतम उत्तरीय ब्राह्मण थे। मेकडानल के अनुसार यास्क सूत्र काल के आदि

में हुए वशिष्ठ कहते हैं—

"जैसे स्त्री की सुन्दरता अन्धे को कोई प्रसन्नता नहीं देती, इसी प्रकार षड्‌गों तथा यज्ञों समेत सब वेद उसके लिये शुभ नहीं होते जिसका आचार ठीक नहीं है।" सूत्र काल के ग्रन्थ अपौरुषेय नहीं हैं। पुराणों के विषय वर्णन के साथ प्राकृत का पहला लेखन काल प्रारम्भ हुआ। बौद्ध साहित्य के पूर्व देश में लेखन का प्रचार था। राजाओं, सूतों, स्त्रियों तथा शूद्रों के प्रोत्साहन से हमारे यहाँ पहले पहल इतिहास का प्रादुर्भाव हुआ। प्राकृत के श्लोकबद्ध पुराण भी बने थे और सर्व साधारण में उनका मान होता था: लेखन कला का विशेष चलन भारत में सूत्रकाल से ही हुआ। स्वयं वेद में कष्टकर्णी गायों के कथन से उस काल में भी कुछ लेखन का प्रचार मिलता है। उसके पूर्व भी हड़प्पा तथा मोहंजोदड़ों में खासा लेखन का प्रचार था। पहले नाटक ग्रन्थ प्रथम शताब्दी ई० पू० वाले भास कवि कृत हैं। मनुस्मृति का समय पाश्चात्य पंडितों ने दूसरी शताब्दी ई० पू० से दूसरी शताब्दी ईसवी तक माना है। इसके तीन संस्करण हुए तथा क्षेपक भी बहुत हैं। स्मृतियों का समय ई० पू० पाँचवीं से कई शताब्दियों तक चलता है। सूत्रकाल में गुरुद्वारों की संस्था कमी को प्राप्त हुई तथा वानप्रस्थ और संन्यास की परिपाटी भी घटी। हिन्दू धर्म के अनुयायी बढ़े। आदिम निवासियों के जत्थे के जत्थे इस काल हिन्दू धर्म मे आगये। पतित या जातिच्युत आर्य भी शूद्र ही कहलाते थे। चार वर्णों के अतिरिक्त एक बड़ी जाति निषाद भी थी। वे हिन्दू होने वाले जत्थे बढ़ई, लोहार आदि की भाँति एक एक काम करने वाले थे। हिन्दू होने पर भी वे समाजिक, वैवाहिक आदि सम्बन्ध पीछे भी अपने ही अपने

वृन्द से करते रहे। समय पर उनके अनुकरण से आर्यों में भी जाति की कड़ाई बढ़ी।

वैदिक समय में आर्य सभ्यता का केन्द्र पंजाब एवं कुरुक्षेत्र रहा, ब्राह्मण काल में कुरुक्षेत्र तथा बिहार और सूत्र समय में कान्यकुब्ज तथा बौद्धों के सम्बन्ध में मगध। महाभारत युद्ध के समय भारत के ठेठ पूर्व, ठेठ पश्चिम और ठेठ दक्षिण में अहिन्दुओं या आदिम लोगों का प्राधान्य था, किन्तु सूत्रकाल में वे सब हिन्दू होगये। इस काल में हमारा धार्मिक विस्तार चरम सीमा को पहुँच गया। बुद्ध पूर्व प्रतिमा पूजन का कोई उदाहरण नहीं मिलता न अवतार के विचार का। शतपथ ब्राह्मण में विष्णु का मान तो है किन्तु कृष्ण का नहीं। उसी में दक्ष और पार्वती को बलि प्रदान का उल्लेख है। रामचन्द्र के समय तक सती देवी का मान न था। उसके पीछे जो दक्ष का यज्ञ हुआ, उसी में सती ने शरीर त्यागा तथा शिव को यज्ञ भाग मिलने लगा। इससे प्रकट है कि यजुर्वेद और अथर्व के जिन भागों में शैव ईश्वरत्व है, वे (१३ वीं शताब्दी ई० पू०) राम से पीछे के हैं। कृष्ण ने सरस्वती का तथा कृष्ण पुत्र शाम्ब ने सूर्य का पूजन चलाया। सूत्रकाल से अनार्यों द्वारा बहुतायत से हिन्दूमत ग्रहण से उनकी धार्मिक योग्यतानुसार कुछ साधारण देवताओं की भी प्रधानता हिन्दूमत में बढ़ने लगी। इस भाँति रुद्र की उन्नति समय के साथ फिर बढ़ चली। महाभारत काल में बंगाल में अनार्यों की वस्ती प्रचुरता से थी। सूत्रकाल में ये लोग हिन्दूमत में आगये और उनके कराल देवताओं का मान इतर वर्गों में भी हो चला। इस प्रकार चक्र पूजन, काली, भैरव, कापालिक आदि का मान बढ़ा। ब्राह्मण काल पर्यन्त ईश्वर से प्रथक ब्रह्मा का कोई विचार

नहीं था न विष्णु ही विशेषतया जगत् सचालक थे। यह कार्य वरुण का था जो वेद के पूर्व और भी ऊँचे देवता थे । सबसे पहिले नारायण ने ब्रह्म का जाना । प्राचीन हिन्दू धर्म ब्राह्मण काल पर्यन्त रहा और नवीन बौद्ध काल के पीछे से है। धार्मिक विचार से सूत्र समय परिवर्तन काल समझा जा सकता है । याज्ञिक रीतियों में अश्रद्धा तथा निर्गुण ब्रह्म की ओर लोक रुचि की वृद्धि से संशयवाद का प्रादुर्भाव होकर जैन और बौद्ध मत समय पर चले। मोहनजोदड़ो हड़प्पा वालियों के अतिरिक्त बुद्ध पूर्व की प्रतिमा अब केवल श्री देवी की सांकेतिक मिलती है, मानुष नहीं।

जैन और बौद्ध मत

(छठी शताब्दी बी० सी० से प्रारम्भ)

संशयवाद हमारे दर्शनों में ब्राह्मण-काल में ही घुस चुका था; अब जैन और बौद्ध मतों के रूप में वह धर्म में भी स्थान पा गया। जैन मत महावीर तीर्थंकर द्वारा बौद्धमत से कुछ पूर्व चला। उसके मुख्य सिद्धान्त हैं (१) सम्यक दृष्टि (२) सम्यक ज्ञान और (३) सम्यक् कर्म। अन्तिम के पाँच उपभेद हैं, अर्थात् (१) सत्य भाषण, (२) अस्तेय, (३) इच्छा ध्यान, (४) पवित्रता (मानस, वाचिक, कायिक) और (५) अहिंसा । इसमें ईश्वर का अभाव है किन्तु उसी से कुछ मिलते जुलते तीर्थंकर हैं जो ईश्वर और अवतारों के समान थे। आचारात्मिकता की प्रधानता थी ही । इधर जो आदिम हीनयानीय मत महात्मा गौतम बुद्ध ने ५२८ ई० पू०

में चलाकर ४५ वर्ष के उपदेशों द्वारा वृद्धिगत किया, उसमें ईश्वर और वेद बिलकुल न थे और वह पूर्णतया आचारात्मक था। उसने लोकमत का भी मान करके बुद्ध, धर्म और संघ का त्रिरत्न निकाला तथा कामना-त्याग के द्वारा निर्वाण प्राप्ति पर ज़ोर दिया। यह धर्म अशोक के समय तक विश्वास मात्र रहा, किन्तु उस ने सम्राट ने प्रायः २६० ई० पू० से कुछ जैन सिद्धान्त भी मिलाकर बौद्ध मत के सहारे एक कामकाजू धर्म निकाला जिसका उसने जनता में प्रेमपूर्वक प्रचार किया। कहलाया यह बौद्ध धर्म ही। ज्योंहीं यह आचारात्मक विश्वास-वाद-शून्य धर्म जनता में पहुँचा त्योंही उनके नीचे सिद्धान्तों के अनुसार हिन्दू धर्म से मिलते जुलते हुए नवीन भाव इसमें जुड़ने लगे। बुद्ध भगवान् का भाव बढ़ते-बढ़ते वे ईश्वर हो गये और जहाँ बुद्ध की शिक्षाओं से प्रत्येक सुकर्मी अपने कर्मों के सहारे निर्वाण पाता था, वहाँ शिष्यों की शिक्षा से उन्हीं के सहारे पराये बल पर हजारों लोग निर्वाण पाने लगे, अर्थात् माहात्म्य में यह स्वयं बौद्ध मत के आगे निकल गया।

इस प्रकार यह महायान कहलाया और स्वयं बुद्ध द्वारा प्रतिपादित मत हीनयान हो गया। बौद्ध ग्रन्थ समूह त्रिपिटक पहले हीनयानीय सिद्धान्तों पर बना था। सम्राट् कनिष्क के समय पहली शताब्दी ईसवी में वही महायानीय विचारों के अनुसार फिर से बनाया गया। जिन बाहरी देशों में बौद्ध मत पहले फैल चुका था वहाँ उसका हीनयानीय रूप था, तथा चीन, जापान, बर्मा, आदि में जो पीछे फैला वह महायान था। बौद्धों से हिन्दुओं के कुछ युद्ध भी हुए किन्तु आधिक्य से नहीं। भारत से बाहर वाले बहुतेरे देशों में भी बौद्ध मत

स्वीकार किया जिससे उन देशों का भारतीय सभ्यता से भी प्रेम उत्पन्न हुआ।

गीता का धर्म

(पाँचवीं शताब्दी ई० पू०)

अनुभव से ज्ञात हुआ कि जनता ईश्वर को बिल्कुल छोड़ने को तैयार न थी, यहाँ तक कि यज्ञ से समर्थित निर्गुण-वाद भी उन्हें पसन्द न था। छठीं शताब्दी ई० पू० में वैष्णवमत गर्भित एक वासुदेव मत चला जिसका कुछ मान हुआ। अनन्तर पाँचवीं शताब्दी ई० पू० में वेद विरुद्ध कह कर इस मत की समीक्षा करते हुए भी महर्षि बादरायण व्यास ने श्री भगवद्गीता में इसी के समान एक नवीन मत चलाया, जो उपनिषदों के परमोच्च निर्गुण विचारों को मानता हुआ भी सगुणवाद का भी प्रवर्तक हुआ। उसमें वैष्णव ईश्वरता और कार्ष्ण अवतार-वाद पहले पहल बल पूर्वक चलाये गये। अतएव विश्वासात्मक सगुण वाद को लेता हुआ भी यह निर्गुण वाद के प्रतिकूल न गया। गीता वेदों से बढ़कर साहित्यिक, उपनिषदों के समान दार्शनिक, बौद्ध मत के समान आचारात्मिका तथा मोटियापन को बचाते हुए लोकायत मत के समान विश्वासात्मिका थी। इसका मान बहुत अच्छा हुआ तथा इसके द्वारा लोक स्वीकृति खोये हुए ईश्वरवाद ने फिर से सदा के लिये देश में मान पाया। योरुपीय पंडितों ने दिखलाया है कि इसमें पहली शताब्दी ईसवी तक के विचार मिलते हैं। इससे प्रकट है कि पीछे से इसमें भी कुछ घटाव बढ़ाव हुए हैं, किन्तु वे ऐसी

प्रवीणता पूर्वक हुए कि इसका रूप कहीं बिगड़ने न पाया न गुत्थल हुआ। गीता में वैष्णव ईश्वरता, अवतारवाद, वासुदेवावतार, कार्मिक सिद्धान्त, निर्वाण आदि प्रस्तुत हैं अथच शैव ईश्वरत्व का अभाव है। गङ्गा का महत्त्व है किन्तु पूजन या स्नान से पुण्य का कथन नहीं है। प्रतिमा भी नहीं हैं। यद्यपि व्यास ने वासुदेव मत का उत्तर मीमांसा में खंडन किया, तथापि वर्तमान गीता में उसका भी मान पाया जाता है।

षड्दर्शन के मूल सिद्धान्त कुछ बुद्ध से पूर्व और कुछ उनसे कुछ ही पीछे स्थापित हुए, किन्तु अन्तिम रूप में ये दूसरी से छठी शताब्दी ईसवी में बने। समय के साथ गीता द्वारा प्रतिपादित उत्कृष्ट मत लोकाभिरुचि द्वारा स्थूल होता हुआ बहुत मोटिया हो गया, जैसा कि आगे दिखलाया जायेगा। गीता में कोई भद्दापन नहीं किन्तु पीछे वाले इतर ग्रन्थों में है। अशोक द्वारा प्रतिपादित धर्म में सहिष्णुता विशेष है और माता, पिता, गुरु, आदि की आज्ञा के पालन पर बल है, वरन ये राजाज्ञा में भी दृढ़ हैं। मांसाशन का प्रायः निषेध है। मुक्ति उपनिषदों में द्विजों को प्राप्य है, जैनों और बुद्धों में सब को तथा गीता में हिन्दुओं को। यहाँ ज्ञान, कर्म और भक्ति मार्ग के उपदेश हैं, तथा सांख्य योग और उपनिषदों का मिश्रण है। सांख्य में कैवल्य शूद्रों को भी प्राप्य है किन्तु उनसे नीचे वालों को नहीं। वेदान्त में वह केवल द्विजों के लिये है और योग में सब के लिये। पुराण ग्रन्थ भी प्राचीन काल से चले आते थे, किन्तु उनमें नवीन भाग प्रचुरता से जुड़कर वे गुप्त-काल में दृढ़ हुए।

लोकायत मत की सूत्रकाल में दशा ।

इस मत के प्रतिपादन में कोई ग्रन्थ तो है ही नहीं किन्तु जिनमें लोगों की दशाओं के सच्चे कथन हैं, उनसे तत्कालीन प्रचलित धर्म का भी पता चलता है। वाल्मीकीय रामायण के पाँच काँड प्राचीन हैं और दो कुछ नवीन। इसके पुराने भागों में बौद्धमत का प्रभाव नहीं दीखता, किन्तु भाषा उनकी चलती पाणिनीय नियमों पर है। इससे निश्चय नहीं कि वाल्मीकि पाणिनि के पीछे हुए, क्योंकि सम्भवतः जो भाषा उस काल में प्रचलित थी, उसी के अनुसार पाणिनि ने व्याकरण लिखा होगा। अतएव वाल्मीकि आगे पीछे प्राय. उसी समय के होंगे। पीछे के भागों में तीसरी शताब्दी ई० पू० तक की रचना समझी जाती है। उधर कौटिल्य कृत अर्थशास्त्र में तीसरी से पहली शताब्दी ई० पू० तक की दशा के वर्णन हैं।

जो धर्म वाल्मीकि की साक्षी से प्राप्त है उसमें अवतार नहीं हैं, तथा वैदिक देवता एवं काम, कुवेर, शुक्र, कार्तिकेय, गंगा लक्ष्मी, उमा आदि देवी देवता हैं। विष्णु और शिव की महत्ता है। नाग, वृक्ष, नदी, तड़ागादि पूजित हैं। देवताओं के मन्दिर और प्रतिमायें हैं किन्तु शिवलिंग नहीं। पशुवलि है। आवागमन सिद्धान्त की पूरी उन्नति नहीं है। तीसरी शताब्दी ई० पू० के महानारायणीय उपनिषत में विष्णु वासुदेव हैं। प्रतिमा कल्प सूत्र में हैं किन्तु उसके पूजन का आदेश नहीं। प्राचीन ग्रीक लेखकों की साक्षी से चौथी शताब्दी ई० पू० में गंगा स्नान में पुण्य माना जाता था। यह पुण्य गीता की गंगा में नहीं कथित है। अर्थशास्त्र में छोटे बड़े देवता हैं। पहाड़ों,

नदियों, वृक्षों, आग, चिड़ियों, नागों, गायों आदि के पूजन मृत्यु आदि से बचने के लिए किये जाते थे, तथा इसी अभिप्राय से रीतियों, मन्त्रों और जादू के काम कराये जाते थे। आवागमन, कर्म और मुक्ति के कथन नहीं हैं। यह मोटिया धर्म कुछ कुछ अशोक वाले धर्म के समान है। चौथी शताब्दी ई० पू० का बौद्ध ग्रन्थ निद्देश बलराम के पूजन की साक्षी द्वारा देश में व्यूह पूजनारम्भ प्रमाणित करता है। रामायण के समय में शिव या तो गिरे नहीं हैं या गिर कर कुछ उठ चुके हैं। गीता में केवल विष्णु ईश्वर हैं।

जो लोकायत मत औपनिषद्धर्म की प्रतिकूलता में बहुत मोटे रूप में उठा था, वह समय के साथ कुछ उन्नति करके पाँचवीं छठी शताब्दी से पहली शताब्दी ई० पू० तक हमें उपर्युक्त रूप में मिलता है। जब इसके आगे परमोत्कृष्ट औपनिषद्धर्म लोक स्वीकृति खो बैठा, तब उसकी महत्ता को न घटाते हुए आचारात्मक बौद्ध तथा विश्वासात्मक गीता धर्म निकले। ये दोनों महोपदेशकों द्वारा प्रचारित थे तथा लोकायत मत जनता द्वारा ग्राह्य मात्र था। पाँचवीं शताब्दी ई० पू० से इन तीनों का संघर्ष देश में लोक स्वीकृति पाने को प्रारम्भ हुआ, जिसमें शैवमत की सहायता से गीता के मत ने आठवीं नवीं शताब्दी ईस्वी तक बौद्ध मत को तो लुप्त प्रायः करदिया, किन्तु शंकराचार्य की भी सहायता पाकर लोकायत मत को न पछाड़ सका। आजकल मौखिक मान तो वैदिक धर्म और गीता का भी लोक में है, किन्तु पुराणों के बल से चल परिष्कृत लोकायत मत ही रहा है, जैसा कि आगे दिखलाया जावेगा।

पंचम युग (पौराणिक या लोकायत धर्म)।

(पहली शताब्दी ई० पू० से आठवीं शताब्दी ईसवी तक।)

संक्षिप्त राजनीतिक दशा।

कालों तथा द्राविड़ों के युद्धादि भारत में कब हुए सो अब तक अज्ञात है। हड़प्पा और माहंजोदड़ो की वस्तुओं से पता चलता है कि ३३ वीं से २८ वीं शताब्दी ई० पू० तक द्राविड़ सभ्यता बहुत ऊँची थी और सुख साधन की सामग्रियाँ द्राविड़ों के पास तत्कालीन आर्यों से विशेष थीं। आर्य आक्रमण भारत में दो धाराओं में हुआ। पहली धारा स्वायम्भुव से चाक्षुप पर्यन्त छ: मन्वन्तरों के भोगकाल प्रायः ७५० वर्षों तक भारत पर अधिकृत रही। इस अधिकार का आद्यन्त काल निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता, किंतु ज्ञात घटनाओं पर ध्यान देने से २७ वीं से २० वीं शताब्दी ई० पू० पर्यन्त माना जा सकता है। अनन्तर वैवस्वत मनु का सफल धावा हुआ। आप अयोध्या में स्थापित हुए और आपके दामाद बुध प्रतिष्ठानपुर (झूसी) में। इन्हीं दोनों व्यक्तियों से प्रसिद्ध सूर्य और चन्द्र वंश चले। इन मनु से रामचन्द्र पर्यन्त ३६ राज्यकाल एक दूसरे के पीछे बैठते हैं जिनका भोगकाल ऐतिहासिक पीढ़ियों के हिसाब से ६५० वर्ष माना जा सकता है। राम के समय पर्यन्त शम्बर, वर्चिन, भेद और रावण नामक परम प्रतापी अनार्य नरेश पराजित होगये और सारे भारत में आर्य-बल बैठ गया। अनन्तर महाभारत काल तक १४ के निकट और पुश्तें आती हैं जिनका भोगकाल २८० वर्षों के निकट बैठता है। प्रसिद्ध महाभारतीय युद्ध दसवीं

शताब्दी ई० पू० के मध्य काल में हुआ, ऐसा कुछ यास्तीय विद्वान मानते हैं। अनन्तर प्राय: दो शताब्दियों तक पौंड्र वंशियों का साम्राज्य रहा और तब कम से कम पाँच मैथिल साम्राट् हुए। गौतम बुद्ध का समय ५६३ से ४८१ ई० पू० पर्यन्त था। इनके समय के निकट भारत में १६ राज्यों की प्रधानता थी। समय के साथ इतरों को दबाकर मागध साम्राज्य स्थापित हुआ। सिकन्दर का पंजाब तथा सिन्ध वाला आक्रमण ३२६ से ३२३ ई० पू० तक रहा।

सिकंदर ने व्यास नदी पार न की और उनकी सेना ने मागध बल के भय से उन्हें लौटने को विवश किया। इसी समय सम्राट् चन्द्रगुप्त और उनके मन्त्री चाणक्य ने छै: वर्षों के भीतर पूर्ण प्रभाव स्थापित किया जिससे मगध में चन्द्रगुप्त का मौर्य साम्राज्य स्थापित हुआ और सिकन्दर वाला ग्रीक बल भारत में ध्वस्त हो गया यद्यपि उससे पश्चात वह कई शताब्दियों तक स्थापित रहा। अशोक की धार्मिक प्रवृत्ति से बौद्ध भिक्षुओं पर इतना अधिक व्यय हुआ और दया बाहुल्य से सामरिक बल की इतनी क्षति हुई कि मौर्य साम्राज्य का १८५ ई० पू० में अन्त हो गया और ११२ वर्षों के लिये शुंग और तब ४५ वर्षों के लिये काण्व साम्राज्य स्थापित हुए। अनन्तर प्राय: २२५ ईसवी पर्यन्त आन्ध्र साम्राज्य कुछ दिन उत्तर में और विशेषतया दक्षिण में स्थापित रहा।

अशोक ने पश्चिमी एशिया में उपदेशक भेज कर वहाँ बौद्ध मत के सिद्धान्तों का प्रचार कराया था। लंका में भी यही दशा

हुई थी। इन देशों में इस प्रकार भारतीय सभ्यता मे महानुभूति हो गई। मौर्य-साम्राज्य के अन्तिम काल में कुछ ग्रीक राज्य पश्चिमी भारत में स्थापित हुए। अनन्तर दूसरी शताब्दी ई० पू० में इन्हें दबाकर शकों के कुछ खंड राज्य पश्चिमी भारत में जमे जो हारते-जीतते हुए प्राय: पाँचवीं शताब्दी तक चले। इनकी एक शाखा युचिशि या कुशाण कहलाती थी, जिसका साम्राज्य उत्तरी भारत में इधर बनारस से उधर ईरान और लघु एशिया तक फैला। राजधानी पेशावर थी। सीथियन, शक और कुशान (तुर्क) केवल राजकीय सत्ता प्राप्त करने के इच्छुक रहे तथा भारतीय सामाजिक सभ्यता से बहुत करके इनकी पूर्ण सहानुभूति रही। २२५ से २४१ ईसवी पर्यन्त आन्ध्र और कुशान दोनों साम्राज्य गिर गये। कुशानों को नागों ने गिराकर साठ वर्षों के लिये अपना साम्राज्य जमाकर हिन्दू सभ्यता की अच्छी उन्नति की। अनन्तर द्रोण पुत्र अश्वत्थामा के वंशधर वाकाटक सम्राट् स्थापित हुए, जिनका साम्राज्य ३३० ईसवी तक रहा और राज्य कुछ शताब्दियों तक आगे भी। गुप्त साम्राज्य ५१० ईसवी तक चला और राज्य ५८३ तक। हूणों के आक्रमण तो ४५५ से होने लगे थे किन्तु इनका साम्राज्य ५११ से ५२६ पर्यन्त ही रहा। ये लोग शैव थे। अनन्तर गौड़ गुप्तों का साम्राज्य कुछ काल रह कर प्राय: ५५० से ६०६ तक मौखरि साम्राज्य चला और तब ६४७ तक हर्षवर्द्धन का। इसके पीछे भारत में खंड राज्य चलते रहे जिनमें मगध और बंगाल वाला पाल राज्य ७४५ से ११६४ तक चला। अरबी मुसलमानों ने हमारा सिन्ध प्रांत ब्राह्मण राजाओं से ७१२ ई० तक लिया। अरबों के प्रभाव से बौद्ध अफगानी राज्य गिरा किन्तु स्थापित वहाँ ७१२ से पूर्व ब्राह्मण

राज्य हो गया, जिसे महमूद के पिता ने गिराकर वहाँ अपना राज्य जमाया। महमूद गजनवी ने उत्तर पश्चिमी पंजाब का ब्राह्मण राज्य अपने अधिकृत कर लिया (सन् १०२५ के पूर्व)। सन् ११६३से उत्तरी भारत में मुसलमानी साम्राज्य स्थापित हुआ। अरबी मुसलमानों से हमारा कोई धार्मिक विरोध न हुआ किन्तु अफगानों ने हमें ईश्वर का साझीदार मानने वाले तथा प्रतिमा पूजक कहकर हमारे धर्म का निरादर किया तथा खड्ग द्वारा हमें मुसलमान बनाने का प्रयत्न किया, जिससे उनके साथ हमारा बहिष्कार वाला सामाजिक युद्ध अकबर के समय तक चलता रहा। अकबर ने इसका अन्त करके हिन्दुओं से प्रेम-भाव स्थापित किया।

पौराणिक साहित्य।

हम ऊपर देख आये हैं कि गौतम बुद्ध और गीता के पीछे इन दोनों महोपदेशकों के धर्मों का सामाजिक संघर्ष लोकायत मत से प्रारम्भ हुआ और यहीं अंत में उन दोनों पर विजयी होकर पौराणिक मत के रूपमें वह सर्वमान्य हुआ। जिस काल आर्यों के प्रकांड पंडित वैदिक धर्म पर पूरा बल लगा रहे थे,उस काल में भी राजाओं,स्त्रियों और शूद्रों का झुकाव इतिहास की ओर भी था और जैसे वैदिक मसाला स्मरण शक्ति द्वारा आर्यों ने सुरक्षित रक्खा, वैसे ही सूतों ने पौराणिक सामग्री बचाई। कृष्णद्वैपायन व्यास को मिलाकर उसकाल पर्यन्त हमारे यहाँ २८ व्यास विष्णु पुराण के अनुसार हुए, जिनमें द्रोण, पुत्र अश्वत्थामा, अथर्वण तथा व्यास के पिता पराशर की भी गणना है। अथर्वण प्रायः पहले व्यास थे। इन सबों ने वैदिक-

सम्पादन का प्रयास किया, किन्तु चला अन्त में कृष्ण द्वैपायन का मत ही। जहाँ चारों वेदों को अपने चार ब्राह्मण शिष्यों में बाँटा, वहीं पुराण का विषय लोमहर्षण सूत को दिया। इन्होंने तथा इन के तीन शिष्यों ने एक एक ऐतिहासिक मीमांसा बनाई। इनमें नवीन घटनायें भी जुड़ती रहीं जिससे समय पर कई प्राकृत पुराण बन गये, जिनका देश में मान बौद्ध आधारों के अनुसार बुद्ध के पहले से था। कहते हैं कि स्वयं कृष्ण द्वैपायन ने भी एक पुराण बनाई। उनके द्वारा महाभारत के मूल रूप जय ग्रन्थ का ८००० श्लोकों में बनना भी लिखा हुआ है। इसे बढ़ाकर वैशम्पायन ने २४००० श्लोकों का भारत ग्रन्थ बना डाला और सौति ने सवा लाख का महाभारत। अतएव जय ग्रन्थ का मूल अपने परिवर्द्धित रूप में लुप्त होकर गायब हो गया, यद्यपि समालोचना शक्ति द्वारा पंडित लोग उसके कुछ भागों को अब भी अलग कर सके हैं। व्यास कृत पुराण ग्रन्थ अब अप्राप्य है। शायद जय से इतर वह था ही नहीं। उसी को जय या व्यास कृत पुराण कहते होंगे। फिर भी इस विषय पर निश्चित रूप से नही कहा जा सकता।

जब प्राकृत पुराणों का मान लोक में बहुत बढ़ा तब पंडितों ने उनके स्थान पर संस्कृत पुराण बनाये जिनकी साहित्यिक प्रौढ़ता के कारण प्राकृत पुराण दबकर नष्ट हो गये। संस्कृत पुराणों में समय के साथ नवीन घटनायें और विचार जुड़ते रहे। समय पर १८ पुराण और इतने ही उपपुराण ग्रन्थ स्थापित हो गये। हिन्दुओं और बौद्धों में कुछ युद्धों तथा शास्त्रीय झगड़ों के कारण बहुतेरे बौद्ध और हिन्दू ग्रन्थ नष्ट हो गये या छितर कर बिगड़ गये। ईसवी प्रथम शताब्दी का अमर कोप

पुराण का जो लक्षण बतलाता है वह अब १८ में से केवल विष्णु पुराण पर लागू है। इससे भी सिद्ध है कि उस काल के पीछे इनमें बहुत उलट फेर हुए।

वर्तमान पुराण ग्रन्थ असम्भव घटनाओं के कथनो से भरे हुए हैं। उधर वैदिक साहित्य में असम्भवनीयता का एक दम अभाव था। पुराणों के मूल रूप उसी काल के होने से उन मे भी असम्भवनीयता उस काल में न होगी,क्योंकि वैसे साहित्य का चलन ही तब न था। अतएव ऐसी घटनायें उनमें पीछे से जुड़ी होंगी। इन कारणों से पंडितों का मत है कि गुप्त काल में हिन्दू पुनरुत्थान के समय नव सम्पादन, परिवर्तन तथा परिवर्द्धन के साथ वर्तमान १८ पुराण तथा १८ उपपुराण ग्रन्थ प्रस्तुत किये गये होंगे। उनमें तत्कालीन घटनाओं तक के कथन भी हैं और कुछ में आल्हा तथा शिवाजी तक के वर्णन हैं। बारहवीं शताब्दी तक वाले कुछ देव मन्दिरों के भी कथन उनमें हैं। भागवत पुराण नवम शताब्दी की रचना समझी जाती है।

समझ पड़ता है कि ग्रीकों, शकों, कुशानों, हूणों आदि को राजनीतिक उन्नति के विचार से हिन्दू बनाने के सफल प्रयत्न में भी उनकी मानसिक उन्नति के अनुसार मोटे धार्मिक विचारों की वृद्धि हुई होगी। जैनों, बौद्धों के धार्मिक झगड़ों का भी यही प्रभाव पड़ा होगा, क्योंकि इन कारणों से अधिकाधिक लोक स्वीकृति आवश्यक थी। हमारी इतर अपढ़ जनता का भी झुकाव मोटिया धर्म की ओर था, जैसा कि ऊपर दिखलाया जा चुका है। इन्हीं कारणों से गीता का धर्म हमारे वैदिक धर्म पर पूर्णतया विजयी हुआ और फिर उसका भी केवल

मौखिक मान करते हुए जनता ने अधिकाधिक मोटिया धर्म पसन्द किया जो पुराणों के वर्तमान रूपों में मान और प्रचुर स्थान पा गया।

पहले कहा जा चुका है कि ब्राह्मण काल पर्यन्त शैव और वैष्णव मतों की क्या दशा थी? जब लोकायत मत की लोक-स्वीकृति से संसार में विश्वासात्मक धर्म की आवश्यकता समझ पड़ी, तभी छठी शताब्दी बी० सी० के निकट वैष्णव विचारों से मिलता हुआ वासुदेव मत चला होगा, जिसकी समीक्षा महर्षि बादरायण व्यास ने वेद विरुद्धता के विचार से की। अनन्तर पाँचवीं शताब्दी ई० पू० की गीता में आपने वैष्णव ईश्वरता और कार्ष्णावतार गर्भित विश्वासात्मक धर्म चलाया। गीता ने पीछे से वासुदेव का भी मान किया और कृष्ण से उनका एकीकरण दिखला दिया। तीसरी शताब्दी ई० पू० में भी एक उपनिषत् में वासुदेव मत का मान ऊपर दिखलाया जा चुका है। वासुदेव भी ईश्वरावतार के समान थे। कोई एकान्तिक मत भी किसी श्वेत द्वीप से आये हुए नारद द्वारा चला। इसमें नारायण को हरि के रूप से पूजा जाता था। महाराजा संक्षोभ के लोह पत्र (सन् ५२८) में भगवद्धर्म का अस्तित्व है। उस में द्वादशाक्षर मन्त्र (ओउम् नमो भगवते-वासुदेवाय) भी लिखा है। विष्णु पुराण में पंचरात्र मत है। यह ग्रन्थ चौथी शताब्दी से पीछे का नहीं है। कुछ ग्रीक राजे और उनके अनुयायी अपने को भागवत कह कर विष्णु पूजन करते थे। समय पर ये सब मत मिल गये जिससे नारायण, हरि; भगवत, वासुदेव आदि का एकीकरण हो गया। दूसरी शताब्दी ई० पू० में वैष्णवमत जोर से चला जिससे वासुदेव

और एकान्तिक मत उसमें जुड़ गये और कृष्ण वासुदेव के रूप में भी पुजने लगे। चौथी शताब्दी ई० पू० में राजदूत मेगस्थेनीज द्वारा मथुरा में कृष्ण पूजन प्रमाणित है। कुछ लोग यहाँ तक सोचते हैं कि अपने जीवन काल में भी कृष्ण सात्वतों मे पुजते थे यद्यपि इस कथन से केवल सात्वत विधि समझी जा सकती है। पहली शताब्दी के अमरकोष में दामोदर शब्द से उस काल में बालकृष्ण का भी विचार मिलता है। लगभग इसी काल मे आभीर जाति गोपालकृष्ण को पूजती थी। वैष्णव पूजन विधान युक्त-प्रान्त तथा उत्तरी भारत में गीता के समय से ही चला आता था। मूलतः यह मत दार्शनिक था और शैवमत की प्रतिकूलता के लिये निकला था। इसमें कई धर्मों के तत्वों तथा विचारों का सामंजस्य है। दूसरी शताब्दी में वृष्णि जाति के कुछ लोगों का राज्य मथुरा प्रान्त में था। इन मे वैष्णव धर्म का प्रचार था। ५६७ के पीछे बौद्ध मत ग्रहण के पूर्व गुप्त सम्राट् भी वैष्णव थे। बौद्ध मत ग्रहण से ही शायद यह साम्राज्य बलहीन होकर गिरा। चौथी पाँचवीं शताब्दी में आड्वर (तामिल) में गीतात्मक वैष्णव साहित्य बना। ये लोग नारायण विष्णु को ईश्वर मानते थे। वहीं दार्शनिक शैवमत भी वृद्धिगत हुआ। राधा सम्बन्धी भावुक वैष्णव मत पौराणिक समय के पीछे चला जिसका वर्णन यथा स्थान होगा। १८ पुराणों में से ६ वैष्णव हैं, ६ शैव और इतने ही शाक्त। मुख्यता वैष्णव पुराणों ही की है। हरिवंश और महाभारत इतिहास ग्रन्थ हैं और बहुत करके वैष्णव हैं।

शैवमत

ब्राह्मण काल पर्यन्त शैव देवत्व और ईश्वरत्व के कथन

ऊपर आ चुके हैं। लोकायत मत की प्रबलता से ईश्वर के रूप में शैव भक्ति गिरी। इस मत में दार्शनिक और उपासना सम्बन्धी दो विचार थे। लिंग पूजन के कारण वैदिक समय के पूर्व से ही इसमें कामुक विभाग था। वासव का चलाया एक लिंगायत सम्प्रदाय भी था तथा पाशुपत मत भी, जिसे स्वयं शङ्कराचार्य ने शैव होकर भी निन्द्य ठहराया। दक्षिण में कामुक शैव मत चलता था। काश्मीर में शुद्ध दक्षिण मार्गस्थ शैव मत का बल था। शैव और शाक्त मत में कभी कोई विरोध नहीं हुआ। इनमें कामुक भावों की वृद्धि मद्रासी, आसामी और बङ्गाली द्राविड़ प्रभाव से हुई। आर्यों ने द्राविड़ों को स्वमत में लाने की आकांक्षा में उनके निन्द्य धार्मिक भावों की तीव्र निन्दा न की, जिससे समय पर शुद्ध वैष्णव मत में भी कुछ कामुक विचार घुस पड़े। पाशुपत मत चौथी शताब्दी का कहा जाता है। लकुलीश (या नकुलीश) का प्रादुर्भाव भांडारकर महोदय के अनुसार पहली शताब्दी के निकट हुआ किन्तु कुछ लोग इन्हें तीसरी चौथी शताब्दी का मानते हैं। सर राधाकृष्ण का निष्कर्ष है कि पाशुपत भागवत और तान्त्रिक विचार ६०० ई० पू० से ईसवी २०० तक के हैं। आड्वर शैव सन्तों में कई भारी विद्वान् और महात्मा थे इन्हीं में से स्वामी शङ्कराचार्य ने आठवीं शताब्दी में सारे भारतवर्ष में दार्शनिक शैव मत, अद्वैतवाद और तार्किक मत का डंका बजाया। इसका कथन आगे आवेगा। बौद्धमत का भारत में गिराव बहुत करके शैवमत और तर्कों के प्रभाव से हुआ।

त्रिमूर्ति

शिव और विष्णु के ऐतिहासिक विवरण ऊपर आ चुके हैं। ब्रह्मा का कथन किसी वेद में नहीं है। ब्राह्मण काल में कहा गया कि—

ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव।
विश्वस्य कर्ता, भुवनस्य गोप्ता॥

(संसार के रचयिता तथा लोकों के रक्षक ब्रह्मा देवताओं में सब से पहले हुए) शतपत ब्राह्मण में ब्रह्मा पहले नारायण कहे गये। ब्राह्मण काल पर्यन्त इनका विशेष कथन नहीं हुआ। अब तक ब्रह्मा के मन्दिर भी केवल खजुराही और पुष्कर क्षेत्र पर एक ही एक कहे जाते हैं। जब बौद्ध त्रिरत्न से हमारे त्रिमूर्ति सम्बन्धी विचारों के उठने का समय आया और विष्णु तथा शिव के रूपों में हमें पालक तथा विनाशक प्राप्त ही थे, तथा ब्राह्मण काल में भी ब्रह्मा उत्पादक माने ही जा चुके थे, सो इन तीनों को एक ही ईश्वर के तीन भाव मात्र मान कर त्रिमूर्ति का विचार पुष्ट किया गया। गीता में भी ब्रह्मा का कथन है, किन्तु महत्तापूर्वक नहीं। त्रिमूर्ति का विचार पहले पहल पौराणिक समय में ही उठा। मार्कण्डेय और शिव वायवीय पुराणों में भी त्रिमूर्ति के कथन हैं। हरिवंश में हरि-हर की एकता कथित है। फिर भी पुराणों में एक होते हुए भी ये तीनों प्रायः सदैव तीन पृथक व्यक्तियों के रूपों में कथित

हैं और त्रिमूर्ति एक होने का विचार जनता के लिए न होकर पंडितों भर के लिए है।

अवतार

बुद्ध के पूर्व अवतार का विचार हिन्दुओं में न था। मत्स्य और वराह के कथन ब्राह्मण साहित्य में महत्ता पूर्वक हैं, किन्तु अवतार के रूपों में नहीं। वेदों में अवतार का लेश भी नहीं है। वामन का भी नाम ब्राह्मण साहित्य में विष्णु के सम्बन्ध में है किन्तु अवतार का विचार नहीं है। वाल्मीकि के प्राचीन भागों में भी इसका अभाव है। वासुदेव मत में वे अवतार से माने जाते थे, किन्तु यह विचार सर्वमान्य न हुआ। गीता में पहिले पहल श्री कृष्ण बलपूर्वक विष्णु के अवतार कहे गये तथा स्वयं विष्णु त्रिमूर्ति में एक न होकर परमात्मा ही माने गये। अनन्तर पुराणों में विष्णु के दशावतार हुए जिनमें बुद्ध भी एक थे। राम अवतार तो पुराणों में है किन्तु इनका पूजन दशवीं शताब्दी से पूर्व कथित नहीं मिलता।

शक्ति विचार

शक्ति सिंह वाहनी देवी के रूप में मोहंजोदड़ो में तो हैं किन्तु वैदिक तथा ब्राह्मण या सूत्र साहित्य में इनका पता नहीं है। ये पौराणिक उपज हैं। केवल केनोपनिषत् में उमादेवी, इन्द्र, अग्नि और मरुत को ईश्वर का शुद्ध भाव बतलाती हैं। महाभारत में अर्जुन शक्ति-पूजन करते हैं किन्तु इस कथन का समय अनिश्चित है। शैव मत के साथ बंगाल, आसाम और मद्रास

प्रान्तों में शक्ति पूजन का प्रभाव पौराणिक समय से पीछे वैष्णव मत में भी घुसा।

गणपति

इनका भी कथन वेदों में नहीं है। पहले चार विनायक थे किन्तु पीछे एक गणेश हुए। इनकी महत्ता दक्षिण में विशेष है। पहले आप विघ्नकारी सेना के नेता थे जिससे समझा जाने लगा कि इनका पूजन आदि में कर देने से पूजक विघ्नों से बच सकता है। समय के साथ उन्नति होकर इनका विचार विघ्नेश से उठकर विघ्न-विदारक का हो गया। हमारे पंचायतन में आप भी एक हैं। शेष चारों हैं ब्रह्मा, विष्णु, शिव और सूर्य।

दर्शन

हमारे षड्दर्शन चले तो प्राचीन काल से आते थे किन्तु इनकी पूर्ण उन्नति पौराणिक समय में ही हुई जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। जैन और बौद्ध दर्शन भी इसी काल में उन्नत और दृढ़ हुए।

प्रतिमा

प्रतिमा का खासा चलन हड़प्पा और मोहेंजोदड़ों में था, किन्तु वेदों में यह न मानी गई। ब्राह्मण साहित्य में इसका चलन आर्यों में नहीं पाया जाता, न पूजन का आदेश है, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। बौद्ध मत जब महायान में परिणत हो रहा था तब उनके प्रभाव-वर्द्धन से पहले सांकेतिक प्रतिमायें

बनी और अनन्तर मानुष भी। हिन्दुओं ने भी बौद्धों की देखा देखी प्रतिमा का थोड़ा बहुत मान किया। कुषाण शासक तुर्क थे। तुर्किस्तान तथा पश्चिमी एशिया में उस काल में प्रतिमा का बड़ा बल था। कुषाण शासकों ने हमारे देवताओं का भी मान करके प्रतिमा का चलन देवकुलों में तथा सिक्कों में बढ़ाया जिससे इसका प्रचार यहाँ भी बहुत बढ़ गया। समय पर प्रतिमा-लय ही हमारे पूजनालय रह गए और तीर्थों के साथ इनका प्रभाव देश में अति विस्तृत हुआ जो पौराणिक समय के पीछे मुसलमानों के प्रतिमाध्वंसन से भी कम न हुआ। यह प्रचार अब भी पूर्ण बल से चल रहा है।

तीर्थ

वैदिक समय में या उससे भी पूर्व तीर्थों का प्रचार न था, ब्राह्मण काल में भी यही दशा रही किन्तु सूत्रकाल में इसका थोड़ा बहुत चलन समझ पड़ता है। वेद में पापमोचनार्थ वरुण और सवितर से प्रार्थनायें की गईं किन्तु इसका प्राधान्य न था। ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर वरुण की जल के अधिपति के रूप में प्रार्थनायें हैं। इसी आधार पर पौराणिक काल में जल-पूजन का आधिक्य हुआ। फलतः, जल (नदी, समुद्र या सर) के समीप बसे हुए स्थानों को तीर्थ का रूप दिया गया और धीरे धीरे उनका महत्व बहुत बढ़ा। ईसाई मत में पाप-स्वीकृति और मुसलमानी में तोबा का चलन भी इसी निमित्त था। हमारे यहाँ तीर्थ-स्नान से यही काम चलता था। गीता में गंगा की महत्ता कथित है, किन्तु स्नान से पुण्य का वर्णन नहीं है। ग्रीकों की साक्षी से चौथी शताब्दी ई० पू० में यह भाव

हिन्दुओं में पाया जाता है। समय के साथ इसकी महती वृद्धि हुई और पापमोचन के लालच में जनता इसका अत्यधिक अनुचित प्रयोग करती है। ग्रहण आदि के समय लोगों को थोड़े दान से असंख्य फल पाने की झूठी लालसा भी कुपात्रों को दान दिलाती है।

पौराणिक धर्म

जिस लोकायत मत का प्रचार पुराणों ने किया, उसके बहुत अनुचित कथनों को एकदम छोड़ दिया है। ईश्वर और वेदों की निन्दा पुराणों में बिल्कुल नहीं है न चार्वाक मत मूलक दर्शन का समर्थन है। धीरे धीरे लोकायत मत द्वारा तिरस्कृत उस ब्राह्मण धर्म से जनता दिनों दिन दूर हटती गई है, यद्यपि उसका मौखिक मान पूर्णता के साथ वर्तमान है। ईश्वर का परमात्मा सम्बन्धी भाव दर्शनों तथा उस धार्मिक उपदेशों में प्रस्तुत है किन्तु उसके पूजन विधान का पूर्ण अभाव है। शिव, विष्णु, शक्ति आदि के पूजन मानुष रूपों में होते हैं, निराकार परमेश्वर के रूप में नहीं। त्रिमूर्ति में से मनुष्यों की भाँति प्रत्येक की एक एक स्त्री है। शिव का कुटम्ब भी है। हमारे सब देवताओं में मानुष भाव प्रधान है। अवतार तो मनुष्य थे ही। तीर्थों में मूर्त देवताओं का पूजन है, अमूर्त के कहीं नहीं। शेष प्रतिमाएं उससे भी नीचे गिरी हुई हैं। अतएव पौराणिक मत द्वारा सत्कारित और प्रभावित हमारा मत ऊँचे को न जाकर धार्मिक उन्नति को नीचे की ओर ले गया। वैदिक और ब्राह्मण काल में यज्ञों का जो भारी मान था वह सूत्रकाल में बहुत गिर गया तथा पौराणिक समय में लुप्त प्रायः हो गया। ६७० के निकट गौड़ के

गुप्त सम्राट् का अन्तिम भारी यज्ञ हुआ। उधर बौद्ध मत भी महायान के रूप में हीनयानीय उच्च सिद्धान्तों को छोड़ कर नीचे गिरा। उसमें माता, पिता, गुरू आदि का आज्ञापालन राजाज्ञा तक से कराया गया तथा मांसाशन का भी बहुत कुछ निषेध था।

फल यह हुआ कि तत्कालीन हिन्दू मत से महायान धार्मिक उच्चता में कुछ भी न बढ़ा, तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में बाधा डाल कर समाज को और भी अग्राह्य हुआ। बौद्धों ने विदेशों में धर्म-प्रचार का इतना चाव दिखलाया कि जब उनमें से कुछ विदेशियों ने भारत विजय करके अपने राज्य यहाँ फैलाये और तब भी बौद्ध धर्म का मान किया, तब इन धर्मान्ध बौद्ध भारतीयों ने उनके प्रतिकूल देश प्रेम की कुछ भी उमंग न दिखलाई वरन् धार्मिक गिराव के विचारों से उन्हीं भारतीय हिन्दुओं को कोसा जिन्होंने देश स्वतन्त्र करने के सफल प्रयत्न किए। इन कारणों से बौद्ध मत लोक- स्वीकृति खो कर बिना किसी दबाव के जनता से प्राय: उठ गया और केवल कुछ पंडित उसके रक्षण में धादरत रहे जिन्हें हरा कर स्वामी शंकराचार्य ने भारत में बौद्ध मत की कमर तोड़ दी तथा वह देश से निर्मूल प्राय: होगया। इसी प्रकार श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदायों के झंझट में जैन बल भी शिथल पड़ गया और पौराणिक समय में तथा इसके पीछे देश में बहुत कम रह गया। बौद्ध मत में पहिले परमोच्च हीनयान चला और फिर भद्दा महायान। अनन्तर प्राय: चौथी शताब्दी में उससे भी भद्दा मन्त्रयान उठा तथा प्राय: छठी शताब्दी में कामुक और नीच वज्रयान (सहजिया पंथ) जो शंकर स्वामी के कुछ ही पीछे बौद्ध मत में पूर्ण व्यापक होकर भी

धीरे धीरे अपने अनुयायी खोता रहा, यहाँ तक कि महात्मा गोरखनाथ के समय गोरखपन्थ में सम्मिलित होकर वह बौद्ध मत के रूप में लुप्त हो गया।

किसी धर्म की निन्दा केवल धार्मिक विचारों से करनी अयोग्य है जब तक कि उसके द्वारा अनुयायियों की हानि न हो। जनता के लिए हिन्दू भाव अच्छे और उन्नता वर्द्धक हैं, किन्तु विश्वासात्मकता की महती वृद्धि से हमारे हिन्दू भाई आजकल बहुतायत से मत परिवर्तन कर रहे हैं। सन् १८८१ की मनुष्य-गणना के समय भारत में ७६ प्रतिशत हिन्दू थे किन्तु साठ वर्ष पीछे १९४१ में केवल ६८ प्रतिशत रह गए हैं। लोगों ने हिसाब जोड़ कर समझा है कि प्रायः ३०० हिन्दू प्रति दिन यह धर्म छोड़ कर ईसाई या मुसलमान हो जाते हैं। यह दशा ठीक नहीं है और इसके विषय में विचारने की आवश्यकता है। पौराणिक धर्म के हमारे विवरण में उसकी कुछ निन्दा भी भासित होती है, किन्तु विचार पूर्वक समझने से प्रकट है कि अपने जिन पूर्व पुरुषों ने उसे चलाया था, उन्होंने किसी चाव से उसे न चलाया, वरन् परिस्थितियों से विवश होकर हिन्दुओं की राजनीतिक उन्नति के लिए ऐसा किया। इसमें वे पूर्णतया सफल भी हुए, क्योंकि न केवल प्राचीन भारतीयों को उन्होंने एक सामाजिक सूत्र में बाँधे रखा, वरन् नवागन्तुक विजयनी जातियों ग्रीक, शक, कुशान (तुर्क), हूण आदि को भी हिन्दू बनाकर अपना मत पूर्णतया सुसंगठित, दृढ़ और सर्वमान्य बनाया। अतएव व्यापकता में वे भली भाँति सफल कहे जा सकते हैं। यदि अपना मत लोक-स्वीकृति के अनुसार वे न पलटते, तो देश में हिन्दू मत इतना महान, सर्वमान्य और मध्य धर्मी न हो

सकता। अतएव उनके प्रयत्न शतमुख से सराहनीय हैं। रहा उसके कारण पीछे की बल हीनता का प्रश्न, सो वह भी समय के साथ धीरे-धीरे ठीक होता ही जा रहा है। हिन्दुओं की भावी सामाजिक एव राजनीतिक उन्नति से हमारी संख्या भी ठीक हो जावेगी तथा शिक्षा प्रसार से धीरे धीरे धार्मिक सुधार भी हो ही रहा है। अतएव हमारे लिए अपने पूर्व पौराणिक पुरुषों को कोसने अथवा उनकी किसी समझी हुई भूल पर आँसू बहाने की आवश्यकता नहीं है। उचित यह है कि समय के साथ हम अपना धर्म परिष्कृत करते जावें। यह स्वयं ही होता जा रहा है।

षष्ट युग (तर्क वाद)

(आठवीं से १४ वीं शताब्दी तक)

आठवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में स्वामी शंकराचार्य ने ठेठ दक्षिण से उत्तर पधार कर जगत्प्रसिद्ध दार्शनिक शैवमत, अद्वैतवाद एवं तर्कवाद-पूर्ण उपदेश दिया। काश्मीर से रास-कुमारी तक घूम कर आपने पाशुपत मतावलम्बी नीलकंठ, पूर्व मीमांसावादी मंडन मिश्र और अनेकानेक जैन तथा बौद्ध पंडितों के मत खंडित करके मायावादयुक्त अद्वैतवाद चलाया। पौराणिक मत की स्थूलता दूर करने के विचार से स्वामीजी ने त्रिरत्न के नाम से भगवद्गीता, दशोपनिषत् और उत्तर मीमांसा की टीका रची। अब विज्ञान की वृद्धि से सारा संसार शक्ति-समूह प्रमाणित हो चुका है, जिससे अद्वैतमत की सिद्धि के लिए मायावाद की आवश्यकता नहीं रही है। अब जीवात्मा की सत्ता व्यावहारिक मानने की भी आवश्यकता नहीं है क्योंकि वह भी

शक्ति मात्र होने से वस्तुओं के समान पृथक सत्ता रखता हुआ भी शक्ति समूह ईश्वर का अंश मात्र रह जाता है। शंकर स्वामी की बहादुरी यह थी कि विज्ञान के अवनत दशा में भी आपने माया तथा व्यावहारिक और विवर्तवादो के सहारे शुद्ध अद्वैत वाद को जाना। फिर भी शंकरस्वामी वाले गीता के समान पर मोक्ष सिद्धान्त भी समाज के त्राता न हो सके। आपका तथा आपके सिद्धान्तों का मान बहुत भारी हुआ, किन्तु वह मौखिक मात्र रहा और संसार में नाथ सम्प्रदाय के सहारे कामुक मत की और भी वृद्धि हुई। नवीं शताब्दी के श्री मद्भागवत ग्रन्थ ने परम सात्विक होकर भी तन्त्रवाद का मान किया। तान्त्रिक विचार मद्रास, आसाम, बंगाल और मगध में इस काल में व्यापक रूप से फैले। चक्र-पूजन आदि उन्हीं में आजाते है। दक्षिण में लिंगायत मत ने मान पाया। हमारा हिन्दू धर्म उठने के स्थान पर शंकर से दो तीन शताब्दी पीछे तक जितना नीचे गिरा उतना उससे पहले या पीछे कभी न गिरा। सिन्ध में जो अरब राज्य आठवीं शताब्दी में स्थापित हुआ था, उसने न केवल राजनैतिक बल प्राप्त करके हमारी सामाजिक संस्थाओं से पूरा मेल रक्खा, वरन् भारतीय विचारो का प्रभाव उलटे बगदाद में पड़ा। अनन्तर ग्यारहवीं शताब्दी के आदि काल में महमूद गजनवी ने उत्तर पश्चिमी भारत को लूटा और उत्तर पश्चिमी पंजाब में राज्य स्थापित किया। उसने न केवल तत्प्रदेशीय भारतीय राज्य बल को दबाया वरन् स्वयं हिन्दू मत को नीच कह कर प्रतिमायें तोड़ीं-फोड़ीं। अथच खड्ग द्वारा हमें मुसलमान बनाने का प्रयत्न किया। हिन्दुओं ने निर्बल जातियो के एकमात्र अस्त्र असहयोग एवं बहिष्कार द्वारा मुसलमानों का सामना किया।

हमारे यहाँ राजकीय तथा सामाजिक दो संस्थायें एक दूसरे से प्राय: भिन्न थीं। भारत मे खडराज्य सैकड़ों थे जो आपस में नित्य ही सन्धिविग्रह किया करते थे, किन्तु साँस्कृतिक संस्था सारे भारत में एक थी जो तुच्छ राजाओं के झगड़ों से बिल्कुल पृथक् रहती थी और जिस पर इन झगड़ों का कोई कथनीय प्रभाव नहीं पड़ता था। अब तक के बाहरी विजेताओं ग्रीक, शक, कुशान, हूणादि, के भी संघट्ट ने हमें यही झूठा अनुभव सिखलाया था। हमारे द्वारा राजकीय संस्था के तुच्छ माने जाने से सामयिक उन्नति भी आँख मे ओभल हो गई। इसी से मुसलमानी साधारण शक्तिमात्र से हम पराजित हो गए। यह धार्मिक बहिष्कार वाला युद्ध शान्ति में भी शताब्दियों तक चलता रहा जब तक कि सम्राट् अकबर ने इसका अन्त नहीं किया। थोड़े दिनों के लिए औरंगजेब के समय फिर जाग्रत् होकर यह अन्त में सदा के लिए समाप्त हो गया।

मुस्लिम प्रभाव से, समाज-संरक्षण के विचार से हमारे ऋषियों ने संगठन द्वारा उसे दृढ़ करना चाहा। इसीलिए महर्षि रामानुजाचार्य (१०१६-११३६) ने तर्कवाद में वैष्णव भक्ति जोड़ी तथा निम्बार्क स्वामी (मृत्यु ११६२) ने उसमें राधा का कुछ मान जोड़ दिया। यह वाममत पूर्ण धर्म आगे चल कर बहुत सबल हुआ। श्रीभागवत् में भी इसका आभास है, यद्यपि उसमे राधा नहीं हैं। स्वामी माध्वाचार्य (११६७-१२७७) भी दाक्षिणात्य ब्राह्मण संन्यासी थे। जिनके शिष्य विष्णुस्वामी थे। रामानुज ने विशिष्टाद्वैत मत चलाया तथा माध्व ने द्वैत। विष्णु का मत विशेषतया दार्शनिक था जिसमें शिव और विष्णु दोनों का मान था। आगे होने वाले वल्लभाचार्य (१६३५-

१६८७) के दार्शनिक विचार बहुत कुछ विष्णुस्वामी पर अवलम्बित थे और इतर निम्बार्क पर। आपका मत शुद्धाद्वैत था। चैतन्य महाप्रभु आपके सहपाठी थे। इनका मान बंगाल में था। चक्रधर महाराष्ट्र (१२७२) बौद्ध धर्म के महानुभाव नामक पन्थ के आचार्य थे। इनके मत का प्रचार पंजाब और काबुल में जयकृष्णी पन्थी के नाम से हुआ। वज्रयान नामक बौद्धमत घोर कामुक रूप में सहजिया पन्थ के नाम से मगध और बंगाल में प्रचलित था। महात्मा गोरखनाथ (१३५० के लगभग) के गोरखपन्थ में वेदान्त की विशेष विभूतियाँ एवं शैव उपासना वाली ऐसी प्रणालियाँ भी हैं जो इसे लोक द्वारा ग्रहण के योग्य बनाती हैं। इसमें उपासना, तन्त्रवाद, कर्मकांड और कुछ शारीरिक क्रियायें भी हैं। आपने तान्त्रिक मत को स्वच्छ करके उसे दक्षिण मार्ग की ओर लाने का प्रयत्न किया तथा उधर शांकर अद्वैतवाद को कुछ सगुणत्व दिया। आठवीं शताब्दी से ही सारे बौद्ध सम्प्रदाय सहजिया के अन्दर आगये थे और समय के साथ इसके अनुयायियों की संख्या घटती गई थी। अन्त में यह गोरखमत में आगया और इस प्रकार बौद्धमत के रूप में इसका अन्त हो गया। गोरखमत के अघोर पन्थ एवं वाममार्गी भाग शायद सहजिया ही के प्रसाद हों। फरीद (१३६७) और शेख सुल्तान (१३६७) मुसलमान होकर भी श्रीकृष्ण के भक्त थे। ये दोनों महाराष्ट्र देश के महात्मा थे। वैष्णव मत के भक्ति-गर्भित चलन से समाज का कुछ संगठन मुस्लिम धर्म के बल पूर्वक प्रयोग के प्रतिकूल हुआ। इस काल के शेषार्द्ध में सन्तों के प्रयत्नों से कामुक मत का बहुत कुछ गिराव हुआ और हमारा धर्म दक्षिण मार्ग की ओर अग्रसर हुआ।

सप्तम युग (भक्ति वाद)
(१५ वीं से १९ वीं शताब्दी के मध्य तक)

जब धार्मिक झगड़ों के कारण समाज में धर्म-प्रचारार्थ मुसलमानों द्वारा शक्ति प्रयोग की प्रथा बढ़ी, तब तर्क की आवश्यकता कम देख पड़ने लगी और भक्तिवाद ने खुले खुले तर्काश्रय छोड़ कर केवल विश्वासवाद का सहारा लिया। श्री स्वामी रामानन्द ने (पन्द्रहवीं शताब्दी के आदि में) प्रभाव पूर्ण होकर नारायणोपासना पर बल देकर अहिंसा का प्राधान्य माना तथा हिंसायुक्त कर्मकांड का निरादर किया। आप महर्षि रामानुजाचार्य की ही शिष्य-परम्परा मे थे किन्तु उनके द्वारा त्यक्त शूद्रों को भी सन्तों में आपने समान पद दिया, यद्यपि गृहस्थों की खलबली बचाने को उन्होंने समतावाद न चलाया। उपदेशों में भी आपने हिन्दी का मान किया और सीताराम सम्बन्धी पवित्र भक्ति का मान करके परमेश्वर को भुलाया तो नहीं, तथापि बल सगुणत्व पर रक्खा। वैष्णवता की राम वाली शाखा आप ही की चलाई हुई है। आपके शिष्य सन्तों में कबीरदास जुलाहे, सदन, सेन नाई, भवानन्द, महाराजा पीपा, अंगद, धना, रैदास आदि की प्रधानता है जिनमें कई हरिजन भी हैं।

नामदेव (१४२३) परम प्रसिद्ध वैष्णव थे। इनके कुछ पद सिक्ख ग्रन्थ साहब में भी हैं। आपने एकेश्वर को प्रधानता देकर राम-रहीम की एकता का उपदेश दिया किन्तु मूर्तिपूजा और सगुणोपासना को भी नहीं छोड़ा। इनमें ब्रह्मवाद का प्रेम-

प्रधान भाव कम था। गुरुपन की महिमा गोरखनाथ से चली थी। नामदेव, कबीरदास, नानक, दादू, सुन्दरदास आदि ने शब्द और सद्‌गुरु की महिमा को बल देकर मूर्ति, अवतार, जाति आदि का प्रभाव घटाना चाहा, किन्तु यह प्रयत्न देश में सबल न हो सका। यद्यपि इन उपदेशों और पन्थों के कारण कोई विशेष धार्मिक उन्नता नहीं स्थापित हुई, तथापि कामुक मत के विचार शुद्ध धार्मिक भावों से लुप्त-प्राय. हो गये, यद्यपि काव्यानन्द के लिये झूठे धार्मिक रूप में उनका कुछ चलन साहित्य-प्रेमियों में इस काल के प्राय. अन्त तक न्यूनाधिक चलता रहा। न्यून तथा कमजोर समझी जाने वाली हिन्दू जातियों में भी धार्मिक जोश उत्पन्न करके इन उपदेशों ने उनमें मुस्लिम धार्मिक अत्याचार रोकने की इच्छा और शक्ति उत्पन्न करदी। जातीय बन्धन ने भी यही काम किया। अतएव जहाँ काश्मीर में जनता ६० प्रतिशत मुसलमान होगई, पंजाब में प्रायः ५५ प्रतिशत और बंगाल में ५२ प्रतिशत, वहीं बिहार तथा युक्त प्रान्त में केवल १४ प्रतिशत हैं, यद्यपि ये प्रान्त प्रायः ५०० वर्ष मुस्लिम शक्ति के केन्द्र रहे। युक्त प्रान्त को गोस्वामी तुलसीदास और कबीरदास के उपदेशों से भी भारी बल प्राप्त रहा। उधर बंगाल में धार्मिकता का इतना अन्धा जोश था कि निम्न श्रेणियों का हिन्दुओं में आदर कम हुआ। संस्कृत-गर्भित बंगला भाषा के आधिक्य से उन पर देशी साहित्य का प्रभाव कम पड़ा। पंजाब में एक तो गोस्वामीजी का सा कोई धार्मिक उपदेशक नहीं हुआ, दूसरे वहाँ बल पकड़ने वाले सिक्ख धर्म ने भी जाति वाले बन्धन को शिथिल किया। वहाँ के दो भाग भि[illegible] भिन्न हैं। उसका पूर्वी भाग तो युक्त प्रा[illegible] और पश्चिमी वायव्य सीमा से उस [illegible] भी

पंजाबी हिन्दुओं ने अपनी बहुतेरी जनता खोई। यही दशा सिन्ध की रही जहाँ ७३ प्रतिशत मुसलमान हैं और वायव्य सीमा में ६१ प्रतिशत। मद्रास में केवल ४ प्रतिशत मुस्लिम हैं, बम्बई में प्रायः दस प्रतिशत और शेष भारत में भी थोड़ी सख्या में। केवल आसाम आजकल मुस्लिम वृद्धि तेजी से कर रहा है। इसमें कुछ जनसंख्या की गड़बड़ तथा राजनीतिक मामलों के अनुचित प्रभाव कहे जाते हैं।

महात्मा कबीरदास (१३३८-१५१८) ने अच्छा निर्गुण ज्ञान कहा। उपासना की प्रधानता न होने, अथच अद्वैतवाद की ज्ञानात्मिकता मात्र की महत्ता से यद्यपि वह चला अवश्य, तथापि औपनिषत् ज्ञान के समान सर्वसाधारण में मान्य न हो सका। आपने अपनी धार्मिक शुष्कता हटाने का प्रयत्न अवश्य किया,किन्तु वह सफल न हो सका। आपके साहित्यिक उपदेश चले भी काफी, तथापि सम्प्रदाय के रूप में इसमें व्यापकता की कमी रही,यद्यपि हैं अब भी सहस्रों लाखों कबीर-पन्थी। उपदेशों में आपने सूफी मत का भी कुछ समावेश किया। यह मत सिन्ध में अरबी मुसलमानो के साथ आकर भारत में अद्वैतवाद से भी प्रभावित होकर रुचिर कथाओं द्वारा ईश्वर का भजन नायिका के रूप में चलाता था और इसी से अन्त में सच्ची ईश-भक्ति की प्राप्ति मानता था। इतर मुसलमानों की धार्मिक उद्दण्डता के कारण हिन्दू जनता ने इस मत के रुचिर उपदेशों पर यथावत् ध्यान न दिया, क्योंकि यह मुस्लिम धर्म प्रचार ही करता था। उधर कथाओं में हिन्दू देवी देवताओं तथा समाज से भारी सहृदयता के कारण मुसलमानों ने भी इसे न सत्कारा। इस प्रकार जायसी आदि की रचनायें अब

केवल साहित्य के रूप में ही मान पाती हैं। झाँसी में,शेख तकी उस काल के अच्छे सूफी फकीर थे। बंगाल के पहुवा शरीफ में भी सूफी मत की एक गद्दी थी। ये लोग जीव और जगत् को ईश्वर से अभिन्न मानते थे। हजरत पड़ुवा के शेख निजामुद्दीन औलिया अच्छे फकीर थे। हुसैन शाह (१४९३) ने सत्य पीर का मत चलाया। जौनपूर के भी पीर प्रसिद्ध थे। नामदेव, कबीरदास, सूफी सन्त, नानक, दादू दयाल आदि हिन्दू मुस्लिम धार्मिक ऐक्य लाने के प्रयत्न में थे ? किन्तु ये प्रयास असफल रहा, क्योंकि न तो हिन्दू मुसलमान होना चाहते थे न मुसलमान हिन्दुओं के मत की निन्दा छोड़ सकते थे।

बाबा नानक (१४६९-१५३९) प्रसिद्ध सिक्ख मत के प्रवर्त्तक थे। जाति पाँति को निन्द्य ठहराकर आपने अद्वैत भावात्मक, ईश्वर भक्ति-पूर्ण शुद्ध दक्षिणमार्गस्थ, औपनिषत् ज्ञान गर्भित श्रेष्ठ धर्म चलाया। इस मत के दस गुरु हुए जिनमें गुरु गोविन्द सिंह (१६६६—१७०८) अन्तिम थे, जो धार्मिकता के साथ युद्ध-विद्या को भी प्रधानता देते थे। आपने खालसा-पन्थ स्थापित करके सिक्खों में उद्दंड जातीयता का बीज बोया जिससे समय पर भारी सिक्ख राज्य स्थापित हुआ। चैतन्य महाप्रभु (१४८४—१५६२) ने बङ्गाल में और वल्लभाचार्य (१४७८—१५३०) ने पश्चिमी युक्त प्रान्त और गुजरात में कामुक वैष्णवता की दृढ़ स्थापना की। हैं कई वैष्णव सम्प्रदाय, किन्तु चलन मुख्यतया इन्हीं दोनों तथा रामानन्दी का है। रामानन्दी संप्रदाय अवध, मध्य भारत, पूर्वी युक्तप्रान्त आदि में चलता है। अष्टछाप के कविगण वल्लभीय में थे, जिनमें सूरदास, परमानन्ददास, नन्ददास आदि की मुख्यता है। इनकी रचना है

श्रेष्ठ, किन्तु कुछ कठिन तथा वाम मत-गर्भित होने से धार्मिक क्षेत्र में स्थान न पा सकी, यद्यपि साहित्यिक क्षेत्र में इसका मान कई शताब्दियों तक रहा अथच गान-शास्त्र में अब भी है।

धुन्ना, दादूदयाल, (१५४४-१६०३) भी अच्छे निर्गुण-वादी सन्त थे। गोस्वामी तुलसीदास (१५३२-१६२३) हमारे सर्वोत्कृष्ट कवि थे, जिनके उपदेशों का मान उसी समय गीता के पीछे हमारे यहाँ सब से विशेष हुआ। रामकथा गर्भित शुद्ध दक्षिणमार्गस्थ, एकेश्वरवाद-पूर्ण आपके उपदेश पूर्णता के साथ लोक स्वीकृति प्राप्त कर सके। कविता में भी आपका ऐसा ही मान है। आप रामानन्द की शिष्य परम्परा में थे। अब तक मुस्लिम धार्मिक बल से महाराष्ट्र देश मुक्त प्रायः था, किन्तु अब वहाँ भी यह प्रभाव पड़ने लगा, जिससे उधर भी उपदेशक सन्त खड़े हुए। ठेठ दक्षिण मुस्लिम प्रभाव से सदैव मुक्त रहा है। महात्मा तुकाराम (१५६८) भागवत धर्मान्तर्गत वारकड़ी पन्थ के जन्मदाता थे। आप नवीन काव्य में ही ईश-चिन्तवन किया करते थे। स्वामी एकनाथ (१६७१) को ही दृढ़ रूप से दक्षिण में भागवत-धर्म की स्थापना का श्रेय प्राप्त है। नाभादास (१६१३) ने भक्तमाल रचकर बहुतेरे भक्तों का बहुमूल्य कथन किया। सेनापति (१६५०) पहले ब्राह्मण सत्कवि थे जिन्होंने उपदेशक न होकर भी प्रतिमा की अमान्यता प्रचारित की। महात्मा रामदास (१६५०) प्रसिद्ध छत्रपति शिवाजी के गुरु थे। उन्होंने एक बार अपना सारा राज्य आपको दे दिया किन्तु आपने न लेकर उनके बहुत हठ करने पर अपना भगवा झंडा मात्र वहाँ स्थापित कर दिया जिसका मान महाराष्ट्र में अब तक है। स्वामी प्रेमनाथ (१६६०) ने बुन्देलखंड में हिन्दू

मुस्लिम मेल के विचार से धामी मत चलाया जिसकी गद्दी महेवा में अब भी है। महाराष्ट्र साम्राज्य के समय हिन्दू मुस्लिम धर्मों के मेल का प्रयत्न गिर गया तथा कोई बड़ा धर्मोपदेशक भी उत्पन्न न हुआ।

बृटिश साम्राज्य (१८१८) में कामकाजू बातें प्रचलित होने लगीं। अब धार्मिक संग्राम तो छूट गया किन्तु तर्कों द्वारा मत परिवर्तन के प्रयत्न चलने लगे। हमारा हिन्दू मत प्राय: अब तक वैष्णव-शैव झगड़ों से दूर, शुद्ध एकेश्वरवाद गर्भित, सगुणविचाराधारित, उच्च भक्ति पूर्ण सात्विक वैष्णव मत के मल के साथ गोस्वामी तुलसीदास के ऐसे विचारों पर चल रहा है जो तीर्थ-स्थानों, प्रतिमा, चातुर्वर्ण्य आदि के मान पर स्थित है, और अन्य विचारों की निन्दा नहीं करता। यह पादड़ियों के विज्ञान भाव गर्भित, असम्भवनीयता पर हँसने वाले तर्कवाद का सामना करने को तैयार न था। निकला तो था यह मुसलमानों के खड्ग द्वारा प्रचारित, तर्क न मानने वाले, बल प्रयोग वाले मत के रोकने को, और उस काल में इसने जाति बन्धन के सहारे योग्य काम करके हमारी धार्मिक जनसंख्या की रक्षा भी की, किन्तु बृटिश साम्राज्य की वृद्धि से विज्ञान का भी प्रभाव बढ़ चला था, जिससे हमारे शिक्षित उच्च समाज ने योग्य हिन्दू उपदेशकों के अभाव में हिन्दू धर्म में सिवा भद्दी पोपलीला के कुछ भी न देखा और फलस्वरूप बङ्गाल तथा पंजाब में बहुतेरे ऊँची जातियों तक के हिन्दू सुख से ईसाई होने लगे। थे हमारे धर्म में परमोच्च विचार और भाव भी जिनकी तार्किक उच्चता के निकट भी ईसाई मत नहीं पहुँचता था, किन्तु उनका जनता को समझाने वाला उस समय कोई न था।

अतएव हमारे यहाँ भारी धार्मिक खलबली पड़ी। पौराणिक युग के अन्त में यहाँ कुछ मोटिया धर्म था , जिसकी स्थूलता तर्कवाद के प्रथमार्द्ध में और भी बढ़ी थी। मुसलमान आक्रमणों से रहा सहा बौद्ध मत भारत से तिरोहित होगया था, तथा पीछे सन्तों के उपदेशों से भक्ति काल में थाम मन क्षीण हुआ था, अथच, मुसलमानों के धार्मिक बल प्रयोग को समाज ने रोका था। भक्ति काल के अन्त में ईसाई तार्किक बल हमारे प्रतिकूल काम करने लगा और समाज में भारी हाहाकार मचा।

आठवां युग (विवेकवाद)

[१९ वीं शताब्दी के मध्य से अब तक]

इस कालमें ईसाइयों का विज्ञान गर्भित तर्क हमारे विश्वासात्मक मत पर आक्रमण करने लगा। विज्ञान के समुचित ज्ञानाभाव से हमारे पौराणिक तथा पीछे वाले पवित्र ग्रन्थों में अप्राकृतिक घटनायें तक आगई थीं। विद्वान् हिन्दू ऐसी कथाओं के मानने में असमर्थ हुए और उपदेशकों में समुचित ज्ञान की कमी से हिन्दू धर्म का शुभ अथच उच्च रूप हमारे अंगरेजी पठित युवक समाज के सामने न लाया जा सका। उधर समाज के निम्न भागों का मान कम था, एवं धन-वृद्धि तथा सुन्दरी स्त्रियों आदि की प्राप्ति के प्रलोभन रोकने योग्य उनमें न तो मानसिक बल था न सामाजिक उच्चता, न हिन्दू-धर्म से स्वभावत: समुचित प्रेम ही शेष रहा था।

बंगाल में हिन्दुओं की निम्न श्रेणी पहले ही हो चुकी थी, सो केवल उच्च कक्षाओं के कुछ अंगरेजी पठित नवयुवक ईसाई बने। यही दशा पंजाब में हुई। उधर मद्रास

प्रान्त में हिन्दुओं के अधोभागों की उपर्युक्त दशा विशेषता से थी जिससे बहुतेरे गाँव के गाँव ईसाई हो गये। यह हमारा सौभाग्य था कि वहाँ के विचारे हरिजन फिर भी अधिकाँश में हिन्दू बने रहे। तो भी वहाँ हमने एक बड़ी संख्या इस प्रकार खोई। बम्बई प्रान्त में भी युक्त प्रान्तादि के देखते हुए ईसाई मत का चलन काफी हुआ, यद्यपि मद्रास की तुलना में यह कुछ भी न था।

ऐसी अवांछनीय सामाजिक अवस्था में बंगाल में केशव चन्द्रसेन तथा राजा राममोहनराय द्वारा अद्वैतवादात्मक उच्च वैदिक विचार पूर्ण ब्रह्म-समाज स्थापित हुआ, तथा पंजाब में गुजरात निवासी बाल ब्रह्मचारी महर्षि दयानन्द सरस्वती के द्वारा आर्य-समाज की स्थापना हुई। इसका प्रभाव पड़ा कई भारतीय प्रान्तों में, किन्तु मुख्यता इसकी पंजाब में ही रही। स्वामीजी ने वेदों को अनादि और अपौरुषेय मात्र मानने का विश्वासवाद आर्यसमाज में रक्खा तथा शेष बातों में विवेकात्मक तर्कवाद का मान किया। आजकल की पठित जनता इतनी भी विश्वासात्मिकता मानने को तैयार नहीं है किन्तु अनुभव बताता है कि धार्मिक फैलाव के लिये कुछ ऐसा विश्वासवाद भी आवश्यक है जो भद्देपन से काफी दूर हो। ब्रह्म और आर्य समाज वाले विवेकात्मक मतों के प्रभाव से ब्राह्मण साहित्य का चलन देश में बढ़ा और पठित समाज से मत परिवर्तन की रुचि एकदम तिरोहित हो गई। इन दोनों मतों ने धर्म को जातीयता से मिलाकर देशोन्नति का भी ढोंल लगाया। अब हमारे समाज का उपेक्षित भाग ही विविध प्रलोभनों तथा सांसारिक उन्नतियों

के लालच से मत परिवर्तन की ओर जाता है। बंगाल में अब भी कुछ विधवा स्त्रियाँ रक्षक शून्य होकर अथवा धनाभाव के कारण दवाव से मुस्लिम बनती हैं तथा देश के निराश्रय एवं निर्धन लोगों से भी कुछ की यही दशा होती है। युक्त प्रान्त, पंजाब आदि में आर्य समाज के प्रयत्नों से खोये हुए हिन्दुओं तथा बहुतेरे खोये विधर्मियों का भी शुद्धि द्वारा हिन्दू बनाने के प्रयत्न भी चल रहे हैं जिनमें कुछ सफलता भी मिली है।

इधर महात्मा गाँधी तथा इतर महानुभावों के प्रयत्नों से देश में विशुद्धाचरण की अच्छी वृद्धि हुई है और देश-भक्ति धर्म-भक्ति का स्थान ले रही है। वैज्ञानिक वृद्धि से धर्म का भी शुद्ध रूप दिनों दिन प्रस्फुटित होता जाता है। खानपान के वन्धन ढीले हो रहे है तथा हरिजनों ने देव मन्दिरो में घुसने तथा सामाजिक समता की माँगें पेश करदी हैं जिनका पठित उच्च समाज में भी मान हो रहा है। आशा है कि अर्द्ध शताब्दी के भीतर हमारे धार्मिक समाज से ये काले दाग धुल जावेंगे। अब स्वतन्त्रता के शुभ विचार धर्म मे भी स्थान पारहे हैं। भद्दे धार्मिक विश्वास मिट रहे हैं और हमारे धार्मिक जल पर जितनी कुछ काई जमी हुई है वह बही जा रही है। राजनीतिक बल की भी काफी वृद्धि हो चुकी है। शैव मन्दिरों में जो देवस्थापना योनि-लिंग के रूप में है उसे लोग स्वयं महादेव और विशेअंगों से उनका कोई सम्बन्ध नहीं समझते। सात्विकिता का हिन्दू धर्म में अब खासा समावेश है। अनुचित दान और व्यय पर भी अश्रद्धा है। समाज के एक वर्ग का यह विचार है, कि वर्तमान काल मे धर्म हमारे समाज का प्रमुख अंग न होकर आर्थिक, राजनैतिक, साँमाजिक आदि अंगों के

साथ मिलकर ही विचारणीय है और उसकी आवश्यकता इस समय अन्य अंगों की अपेक्षा कम है। धर्म का अर्थ अंध-विश्वासात्मक शास्त्रवाद नहीं, किन्तु शुद्ध तर्क संगत नैतिक अध्यात्मवाद है। इस प्रकार आडम्बरविहीन धर्म की ओर लोकरुचि इस युग में भी जागृत हुई है, और हिन्दू धर्म का भविष्य अब उज्ज्वल दीखने लगा है।

हिन्दू धर्म का वैज्ञानिक स्वरूप इस युग में कई महात्माओं ने उपस्थित किया है जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है। परन्तु हिन्दू धर्म के प्रचार में वर्तमान निम्न तीन प्रवृत्तियाँ बहुत महत्वपूर्ण रही हैं:—

(१) रामकृष्ण परमहंस और उनकी आध्यात्मिक जगत को देन।

(२) विवेकानन्द तथा रामतीर्थ का व्यावहारिक वेदांत तथा उनके द्वारा शुद्ध हिन्दू धर्म का विदेशों में प्रचार।

(३) थियॉसफी और उसका प्रभाव।



अध्याय ३

जगदुत्पत्ति

संसार में सजीव और निर्जीव पदार्थों के दो जोड़े हैं। सजीव शरीरों में तीन मुख्य गुण होते हैं अर्थात् अङ्गीकरण, आत्म-रक्षण और उत्पादन। ये गुण निर्जीव वस्तुओं में नहीं होते। यही इन दोनों का मुख्य अन्तर है। अंगीकरण से प्रयोजन यह है कि खाते हम लोग हैं दाल, भात, तरकारी, घी आदि और उनसे बनाते हैं रुधिर, मांस हड्डी आदि, अर्थात् उन वस्तुओं को अंगीकार करके हम आत्मीयकरण में प्रवृत्त रहते हैं। यदि कहीं घाव आदि लग जाय, तो सजीव शरीर उसे ठीक करने का प्रयत्न करने में बहुधा सफल होते हैं और निष्फल होने से वह अपनी सजीवता खो बैठते हैं। इसी सजीवता स्थापन को आत्मरक्षण कहते हैं। उत्पादन बच्चे पैदा करने को कहते हैं। निर्जीव और सजीव वस्तुओं में बहुत कुछ अदला बदली भी हुआ करती है। सजीव शरीर मृत होने पर जलाये न जाने से कीड़े मकोड़ों में परिणित हो जाते हैं और ये भी समय पर मर कर अन्त में निर्जीव वस्तु बन जाते हैं। उधर निर्जीव वस्तुएँ-सजीवों के बल-उनके अंग होकर सजीव बन जाती हैं। निर्जीव वस्तुओं का सबसे छोटा अंश परमाणु कहलाता है। सारा संसार परमाणु-मूलक है, अर्थात् परमाणुओं से ही बना है। पृथ्वी, नक्षत्र आदि सब गोले परमाणु मूलक हैं। जब ठंडी होकर पृथ्वी जीवधारि-

यों की उत्पत्ति के योग्य होने को थी, तब वह वायुमंडल से परिवेष्टित हुई तथा जल से भी सम्पन्न बनी। जो कीचड़ वाले मीलों लम्बे चौड़े स्थान थे, उनमें उचित समय पर पूर्ण कारण प्राप्त होने से यकायक जीवधारी पौधे उत्पन्न हो गए ऐसा विद्वानों द्वारा माना जाता है, यद्यपि अभी तक इसका पूर्ण निश्चय नहीं है। यही पौधे समय पर उन्नति करते करते और विविध रूपों में बदलते बदलते संसार के सभी शरीरों के बनाने में समर्थ हुए हैं।

जैसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म निर्जीव पदार्थ परमाणु हैं, वैसे ही छोटे से छोटा जीवधारी शरीर (Cell) घटक है, जो केवल खुर्दबीन से देखा जा सकता है। मानसिक और शारीरिक बल जैसे सर्वोच्च प्राण धारी मनुष्य में पाये जाते हैं, वैसे ही एक घटक में भी। घटक जीवित संसार का परमाणु सा है। जितने जीवधारी है, वे सब या तो घटक हैं या इनके समूह। हमारी उँगली के एक छोटे से टुकड़े में भी लाखों घटक होते हैं। प्रत्येक घटक एक पृथक जीवधारी है। यदि आप उँगली का एक टुकड़ा काट कर फेंक दीजिए, तो कुछ देर जीवित रह कर वह उछल कूद की क्रियाएँ करेगा और तब मर जायगा।

इससे सिद्ध है कि प्रत्येक अंग पृथक जीवधारी है और शरीर से अलग होने पर भी कुछ समय तक जीवित रहता तथा काम करता है। बीमारी आदि के कारण हमारे दुबले होने में शरीर के करोड़ों घटक मर चुकते हैं तथा स्वस्थ होकर मोटे होने में करोड़ों नये घटक उसमें जुड़ जाते हैं। शरीर के विविध अंग प्रतिक्षण घटा बढ़ा करते हैं, जिसमें हमारे थोड़े बहुत घटक प्रतिक्षण मरा जिया करते हैं। चालीस दिनों में मनुष्य शरीर हड्डी

छोड़कर पूरा का पूरा बदल जाता है तथा सात वर्षों में हड्डियाँ भी बदल जाती हैं। यह परिवर्तन प्रतिक्षण होने से शारीरिक बनक बहुत कुछ एकसी रहती है। अतएव यद्यपि हम सारे जीवन भर एक से जीवित रहते हैं, तथापि हमारे शरीर में प्रतिक्षण जीवन मरण का बाजार गर्म रहता है। विद्वानों ने घटक की परीक्षा कर उसके सामान का निर्णय कर लिया है, किन्तु वे बिना जीव की सहायता के उन्हीं वस्तुओं से प्रयोग-शाला में नवीन घटक बना नहीं सकते। सजीव और निर्जीव पदार्थों का उपर्युक्त विवरण वर्तमान विज्ञान शास्त्र ने निकाला है। इस विषय पर बहुत से चमत्कार पूर्ण मामले ज्ञात हुए हैं। इन परमाणुओं तथा घटकों की क्रियाएँ केवल प्रकृतिवश होती हैं अथवा ईश्वराधीन भी हैं, यह प्रश्न सुगम नहीं है, किन्तु हम यहाँ ईश्वर की ही सत्ता मान कर चलते हैं। इसके बुद्धि ग्राह्य कई कारण भी हैं; किन्तु उनका कथन यहाँ नहीं किया जाता।

जगदुत्पत्ति के सम्बन्ध में आरम्भवाद तथा परिणामवाद नामक दो विचार प्राचीन काल से चले आते हैं। आरम्भवाद का भाव यह है कि, संसार किसी समय ईश्वरेच्छा से बना है और परणामवाद का यह मतलब है, कि परमाणुओं, घटकों आदि के द्वारा प्राकृतिक शक्तियों के योग से उन्नति करता हुआ इस वर्तमान स्थिति को धीरे धीरे पहुँचा है। ईश्वर का निरादर इन दोनों वादों में से किसी में नहीं है, क्योंकि परिणामवाद में भी प्राकृतिक शक्तियों की स्थिति अथच सांसारिक कारीगरी बिना ईश्वरीय शक्ति के नहीं प्राप्त हो सकती है, ऐसा ईश्वर वादियों का विचार है। हमारा भी भाव यही है। आरम्भवाद में सबसे बड़ी कठिनता यह पड़ती है कि, उसमें ईश्वर में इच्छा

करने का भाव आरोपित करना पड़ता है, जो एक दरिद्रता सूचक क्रिया है। जिसके पास सभी कुछ प्रस्तुत है और किसी वस्तु की कमी नहीं, वह इच्छा किस बात की करेगा? बिना संसार के बनाये उसे कुछ तो कमी ज्ञात हुई, तब न उसने इसे बनाया। इस प्रकार आरम्भवाद का विचार थोड़ा बहुत ईश्वरीय महत्ता के प्रतिकूल अवश्य पड़ता है। परिणामवाद में परमाणुओं को अनादि मानने से कभी आरम्भ होता ही नहीं, ईश्वर में कमी क्या आरोपित होगी? इन कथनों में यदि किसी का मतभेद हो, तो वह अपनी बात मान सकता है। जो मत हमने यहाँ प्रकट किये हैं उनका विद्वज्जन बहुतायत से समर्थन करते हैं। अब यहाँ हम हिन्दू शास्त्रों के कुछ प्राचीन विचारों पर विवेचन करते हैं:—

१—.(ऐतरेयोपनिषत् १) आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किञ्चनमिषत्, स ईक्षत लोकान्नु, सृजा इति। अर्थ—"निश्चय करके यह (जगत्) एक आत्मा ही (की सत्ता में) सृष्टि से पहले था, उस (आत्मा) से इतर चैतन्य कुछ न था और लोकों (पञ्च भूतों) को मैं सृजूँ, ऐसा वह (आत्मा) सोचने लगा।" यह मन्त्र ईश्वर से इतर चैतन्य पदार्थ कोई नहीं मानता, किन्तु इसी भाँति जड़ (निर्जीव) वस्तुओं के अस्तित्व से इन्कार नहीं करता। यदि लोक सृजन की इच्छा का भाव इससे निकाल दिया जाय, तो यह परिणामवाद से मिलता सा है और यदि इस चिन्तन को इच्छा मान लिया जाय, तो यह मन्त्र आरम्भवाद में चला जाता है।

२—(छान्दोग्योपनिषत्, षष्ठ प्रपाठक, खंड २, ३) भाव- "पहले एक सत्-मात्र था, जिसने कहा कि, बहुत होऊँ। तब उसने रक्त रूप तेज उत्पन्न किया, जिससे श्वेत रूप जल हुआ

और जल से कृष्ण रूप पृथ्वी हुई। इन तीनों तेजादि भूतों में ईश्वर ने आत्मा द्वारा प्रवेश कर नाम और रूप बनाये।" इस मन्त्र के मूल से आरम्भवाद का समर्थन मिलता है।

३— (ऐतरेयोपनिषत्—१०)—सोऽपोऽभ्यतपत् ताभ्यो ऽभितप्ताभ्यो मूर्तिरजायत या वै सा मूर्तिरजायतान्नं वै तत्। अर्थ—"उस (ईश्वर) ने जल (आदि पञ्च महाभूतों) को तपाया (संकल्प से भावित किया)। उन तपाये हुओं से मूर्ति उत्पन्न हुई और जो वह मूर्ति उत्पन्न हुई, सो निश्चय रूप से अन्न (भोग्य वस्तु) है।" यहाँ जगदुत्पत्ति के पीछे जल की सहायता से अन्न की उत्पत्ति का कथन है; ईश्वरीय शक्तियों के आधार से।

४— (प्रश्नोपनिषत् ४) प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपोऽतप्यत् स तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते, रयिञ्च प्राणं चेत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति। अर्थ—प्रजा की कामना से उस प्रजापति ने तप (क्रियाशक्ति का व्यवहार) किया, उसने तप करके उस जोड़े को उत्पन्न किया, (जिसमें) एक योग्य (रयि) था, और एक भोक्ता (प्राण), यह समझकर कि ये दोनों मेरे अनेक प्रकार की प्रजा (जीवित शरीरों) को उत्पन्न करेंगे, ऐसा है। (रयि अप्राण प्रकृति समझ पड़ती है) यहाँ यदि कामना का विचार छोड़ दें तो ईश्वरीय तप (क्रिया शक्ति के व्यवहार, प्राकृतिक शक्तियों) से संसार सृजन का विचार निर्जीव और सजीव वस्तुओं के द्वारा मिलता है जिनमें सजीव भोक्ता है और निर्जीव भोग्य। इन्हीं दोनों से विविध शरीरों का सृजन माना गया है। केवल कामना शब्द छोड़ देने या इसके विस्तृत अर्थ लगाने से यह मन्त्र परिणामवाद का समर्थक प्रकट होता है।

५— (तैत्तिरीयोपनिषत् दूसरी बल्ली, छठे, सातवें तथा आठवें अनुवाकों के भाग) सः एवम् तपः तप्त्वा (उसने इस प्रकार शक्ति का व्यवहार करके) इदम् सर्वम् असृजत् (इस सारे जगत् को रचा)। सत् (उस एकाकार ब्रह्म ने) स्वयम् (खुद) आत्मानम् (अपने को) एव (ही) अकुरत् (जगत रूप किया)। अस्मात् (उस ब्रह्म के) भीषा वायुः पवते (भय [शक्ति] से वायु चलता है)। अस्मात् भीषा सूर्यः उदेति (उसके भय से सूर्य उदय होता है), च अस्मात् भीषा अग्निः धावति च अस्मात् भीषा इन्द्रः (मेघ) धावति, इति (इसी प्रकार) अस्मात् भीषा पञ्चमः (वायु, सूर्य, अग्नि और इन्द्र से पाँचवाँ) मृत्युः धावति (मौत अपने कार्य म प्रवृत्त है)। (प्रयोजन यह है कि सारा ससार ईश्वर की ही शक्ति से चल रहा है) । इस मन्त्र में परिणामवाद का पूरा रूप देख पड़ता है।

६— बृहदारण्यकोपनिषत् अध्याय प्रथम, ब्राह्मण द्वितीय, मन्त्र १-३) भाव—इस जगत् की सूक्ष्म कारण प्रकृति अशनारूप (भक्षणकारी) मृत्यु से ढकी है। इस मृत्यु रूप ईश्वर के श्रम से अग्नि उत्पन्न हुई। अग्नि, सूर्य और वायु उसके अङ्ग हैं। इन मन्त्रों से यह प्रयोजन निकलता है कि, संसार प्रकृति द्वारा बना है, जो मृत्यु से ढकी है। प्राकृतिक शक्तियों से परिवर्तन होता है तथा प्रत्येक परिवर्तन प्राचीन वस्तु का मृत्यु एवं नवीन का जन्म होने से भक्षणकारी मृत्यु से ढका माना गया है। ईश्वर परिवर्तन का कर्ता होने से मृत्यु रूप है। उसका श्रम प्राकृतिक शक्तियाँ हैं। जो गोले संसार में पहले बने, वे प्रथमतः जलते थे। फिर समय पर उनके छिलके ठंडे हुए, जैसे कि पृथ्वी का सारा संसार ईश्वरांग होने से तथा अग्नि, सूर्य और वायु विशेष शक्तिवान् होने से उदाहरण की भाँति उसके अंग हैं।

अध्याय ४

ईश्वर वाद

वर्तमान पाश्चात्य दर्शन शास्त्रों में ईश्वरवाद पर बहुत विचार किया गया है, किन्तु भारतवासियों का यह दावा है कि, ईश्वर के सम्बन्ध में भारतीय विद्वानों के वर्तमान तथा प्राचीन विचार संसार भर मे सर्वोत्कृष्ट हैं। भारतीय प्राचीन ग्रन्थों के समय सम्बन्धी विचारों पर कोई विवाद रहित दृढ़ मत नहीं प्रकट किया जा सकता और यहाँ इस तर्कपूर्ण विषय को प्रमाणित करने के लिए स्थानाभाव है, क्योंकि हमारे वर्तमान विषय के लिए यह विषयान्तर होगा।

यहाँ हम इतना ही उल्लेख करते हैं कि बृहदारण्यकोपनिषत् का समय प्रायः आठवीं शताब्दी ईसा के पूर्व है और गीता का पाँचवी तथा कठोपनिषत् का चौथी शताब्दी ईसा पूर्व है। पहले ग्रन्थ में याज्ञवल्क्य की प्रधानता है, दूसरे में कृष्णार्जुन की, और तीसरे में यम और नचिकेता की। न्याय कुसुमांजलि ग्रन्थ में ईश्वर सम्बन्धी तीन प्रमाण एक ही श्लोकार्द्ध में दिये गए हैं, जो इस प्रकार हैं:—

कार्यायोजन धृत्यादेः पदात्प्रत्ययतः श्रुतेः।

इस प्रकार यहाँ ईश्वर की पुष्टि में कार्यवाद, धृत्यायोजनवाद तथा पदात्प्रत्ययवाद किये गए हैं।

कार्यवाद का तात्पर्य यह है कि विना कारण के कोई कार्य जब हो नहीं सकता और विश्व भी एक महत्कार्य है, तब उसका कर्ता कोई होगा ही। वही ईश्वर है। इस पर जब उसी उपनिषत् में गार्गीदेवी ने ईश्वर के भी कार्य मानने का तर्क उठाया, तब कुछ अप्रसन्न से होकर ऋषि याज्ञवल्क्य ने कहा कि, शास्त्र से जानने योग्य ईश्वर तर्क से अज्ञेय है। इस प्रकार उन्होंने ईश्वर की सिद्धि केवल विश्वासात्मक भाव पर रक्खी तथा समय पर "ईश्वरासिद्धे प्रमाणाभावात्" (प्रमाण के न होने से ईश्वर असिद्ध है) के से वाक्य प्रचलित हुए। गीता में जीवात्मा तथा ईश्वर के सम्बन्ध में बहुत से परमोच्च विचार वर्णित हैं, किन्तु उसकी सिद्धि सम्बन्धी तर्क नहीं हैं। कठोपनिषत् में भी इसकी सिद्धि कठिन मानी गई है। तर्काश्रित तो यह नहीं कहा गया, किन्तु सत्पुरुषों के विचार गम्य माना गया है। इस विषय में प्रारम्भ का श्लोक इस प्रकार है:—

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः।
अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व मामोपरोत्सीरति मा सृजैनम्॥
(कठोप० १२)

अर्थात् यह धर्म (ब्रह्म विचार) भारी सूक्ष्मता के कारण प्राचीन काल में भली भाँति जानने योग्य नहीं हुआ है, यद्यपि बड़े बड़े विद्वानों ने भी इस पर विचार किया है। हे नचिकेता! दूसरा वरदान माँग ले, इस वर को त्याग दे, मुझे मत दबा।

तात्पर्य यह है कि, बृहदारण्यकादि के विश्वकर्तृत्व आदि के विचारों से भी यह प्रश्न अब तक सुविज्ञेय नहीं हुआ है।

इसी स्थान पर कार्यवाद का विचार कट कर समाप्त होता है।

धृत्यायोजनवाद से बढ़ कर अब तक ईश्वर सम्बन्धी कोई प्रमाण नहीं दिया गया है। इसका प्रयोजन यह है कि, यद्यपि विश्व प्राकृतिक शक्तियों द्वारा उन्नत होता हुआ वर्तमान दशा को पहुँचा है, जिससे वही शक्तियाँ इसकी बनाने वाली कही जा सकती हैं, तथापि उन्हें धारण करने वाला (स्थिर रखने वाला) सिवा ईश्वर के और कौन हो सकता है? यही धृतिवाद है। आयोजन वाद का प्रयोजन यह है कि, जगत के प्रत्येक पदार्थ में हम अनुपमेय कारीगरी के फल देखते हैं। बिना कारीगर के केवल अन्ध शक्तियाँ इतना महत्वपूर्ण विश्व नहीं बना सकती थीं। यदि दश हजार मनुष्य यों हीं कहीं अन्धाधुन्ध रीति से खड़े हों, तो कोई बात नहीं, किन्तु यदि वे नियम पूर्वक कवायद परेड आदि करते या मार्च करते हों, तो किसी सेनापति के वहाँ प्रस्तुत न होने पर भी हम उसका कहीं अस्तित्व बुद्धि द्वारा मान सकते हैं। विश्व को आयोजन वाद एक सेना के रूप में नियमबद्ध देखता है। अतएव अप्रकट नियन्ता ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध होता या कम से कम सत्पुरुषों के विचार में आता है। यही आयोजन वाद है।

हम यह जानते हैं कि, संसार का आरम्भवाद अशुद्ध तथा शुभ है। यहाँ का कार्यवाद आरम्भवाद पर चलता है तथा धृत्यायोजन वाद परिणामवाद पर।

पदार्थप्रत्ययवाद का प्रयोजन यह है कि, हम जगत में केवल ससीम वस्तुओं का अनुभव करते हैं, किन्तु ऐसे अनुभव से

भी पूर्णता का विचार आता है, जो ईश्वर को प्रमाणित करता है। यह एक दार्शनिक अथवा धार्मिक विचार है, जिस पर यहाँ मत प्रकाशन की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। अब हम ईश्वर सम्बन्धी प्राचीन विचारों का दिग्दर्शन करते हैं। पहले ईश्वर सम्बन्धी ज्ञान का कथन होता है:—

ईश्वर का ज्ञान—न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव, तद्विदितादथो अविदितादधि, इति शुश्रुम पूर्वेषाँ ये नस्तद् व्याचचक्षिरे ॥ (कठोपनिषत् ४)

यहाँ (ईश्वर के ज्ञान में) आँख नहीं जाती है, न वाणी जाती है, न मन, नहीं समझते न जानते हैं (कि) यह कैसे जाना जाय ? और प्रकार ही (सुकर्म और बुद्धि से) यह जाना जाता है, इसके अतिरिक्त इन्द्रियों से नहीं जाना जाता, ऐसा हम सुनते आये हैं, उन प्राचीनों से, जो हमारे लिए ब्रह्म की व्याख्या कर गये हैं।

केनोपनिषत् की शिक्षा है कि, अग्नि (नेत्र), मरुत् (त्वचा) और इन्द्र (जीवात्मा) बिना उमा (बुद्धि) की सहायता के उसे नहीं जान सकते।

अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्वभावेन चोभयो ।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभाव: प्रसीदति ॥
(कठोप० ११४)

यह है, तथा तत्वभाव (तात्विक अस्तित्व एवं कार्यों), इन दोनों से (यह ईश्वर) प्राप्त होने योग्य है। जिस मनुष्य ने

वह (ईश्वर) है, ऐसा (निश्चय) प्राप्त कर लिया है, उसका तत्वभाव (शरीरेन्द्रियों का समुदाय) प्रसाद को प्राप्त होता है। यहाँ तत्वभाव से ईश्वरीय स्थिति का ज्ञान प्राप्त माना गया है, सो धृतिवाद है।

अथर्ववेद १४। १। १। १ —ब्रह्म सबका सत्ता (अस्तित्व होना) देने वाला है। प्रयोजन यह है कि, सारा विश्व ईश्वरीय भाव से ही स्थित है। यहाँ भी धृतिवाद है।

> य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः।
> तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन ॥
> (कठोप० ९४)

जो यह (परमात्मा) पुरुष (संसार को) बनाता हुआ कामना को पूरी करने वाला सोते हुओं में जागता है, उसी में सब लोक ठहरे हुए हैं, (और) उसका कोई उल्लंघन नहीं कर सकता। यहाँ धृत्यायोजनवाद का समर्थन है। यदि संसार बनाया, ऐसा कहो, तो कार्यवाद आ जाता है, बनाता हुआ कहने से धृत्यायोजनवाद है।

> अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
> एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥
> (कठोप० ९५)

जैसे एक अग्नि भुवन (उत्पन्न वस्तुओं) में प्रवेश किया हुआ प्रत्येक रूप के साथ उसी रूप का हुआ, उसी प्रकार सब

वस्तुओं में व्यापक होने वाला परमात्मा प्रत्येक रूप के साथ उसी रूप का तथा बाहर भी है।

अब ईश्वर कैसा है ? यह बतलाते हैं।

जो अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अगन्धवान, अनादि अनन्त, पर (सबसे बड़ा), महान् ध्रुव (एक रस स्थिर) है उसको जानकर (ज्ञानी) मृत्यु मुख से छूटता (निर्वाण प्राप्त करता) है।

जो वह अद्रश्य, अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण, अचक्षु, अकर्ण, अपाणिपाद्, नित्य, व्यापक, सर्वान्तर्यामी, बहुत महीन, अव्यय (न खर्च होने वाला, अमर), तथा भूतयोनि (जड़ चैतन्य की सृष्टि का कारण) है, उसे धैर्यवान् लोग समझते हैं। यहाँ धृत्यायोजनवाद है।

तैत्तिरीयोपनिषत् (दूसरी बल्ली, प्रथम अनुवाद का भाग)

विनाश पाने वालों में मरने वाले, सब भूतों में समान भाव से स्थित परमेश्वर को देखने वाला ज्ञाता है।

अवतार—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
(गीता अ० ४, श्लो० ७)

हे भारत ! जब धर्म की बल हीनता एवं अधर्म का प्राबल्य होता है, तब मैं अपने को बनाता (उत्पन्न करता) हूँ। यहाँ से सगुण वाद चलता है जो भक्ति से सम्बद्ध है, न कि शुद्ध तर्क साध्य ईश्वरीय भाव से ।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥
(गीता अ० ७, श्लो० २४)

बुद्धिहीन लोग मेरा बड़ा, नित्य तथा अत्युत्तम विचार न जान कर मुझ अज्ञेय को व्यक्ति (जीवधारी) में प्राप्त मानते हैं। यहाँ प्रयोजन यह है कि, ईश्वर का समग्रांश अवतार में नहीं आता, वरन् उसमें ईश्वर की विशेषता मात्र है।

बृहदारण्यकोपनिषत् ,अध्याय तृतीय, ब्राह्मण नवम्—के निम्नलिखित कथन हैं:—

देवता ३३०६. तथा ६, ३, २, १ १/२ अथच १ भी हैं। वास्तव में ३३ देवता हैं, तथा ३३०६ इन्हीं की महिमा हैं। ३३ देवता हैं ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, इन्द्र और प्रजापति।

अग्नि, पृथ्वी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, चद्रमा और नक्षत्र, ये ८ वसु हैं। ५ ज्ञानेन्द्रिय, ५ कर्मेन्द्रिय और मन ये ११ रुद्र हैं। बारह महीने आदित्य हैं। मेघ इन्द्र हैं, तथा यज्ञ, अग्निहोत्रादि प्रजापति। उपर्युक्त आठ वसुओं में से पहले छः देवता हैं। अन्य देवता इन्हीं के अन्तर्गत हैं। वरुण जलोत्पादक शक्ति है। परमात्मा वरुण देवता है। परमात्मा अगृह्य; अशीर्य (क्षीण न होने वाला), असंग और असित (बन्धन रहित) है।

अध्याय ५

जीवात्मा और परमात्मा

इस गहन विषय पर हम कुछ मान्य आचार्यों के सिद्धान्त उद्धृत करने के पश्चात् अपने विचार प्रकट करेंगे।

[छान्दो० प्रपा० ३, खण्ड १४ (४)] शाण्डिल्य ऋषि का कथन है कि, 'जीवात्मा ब्रह्म है'।

[छान्दो० प्रपाठक ३, खण्ड १४ (१)] "सर्वं खल्विदं ब्रह्म।" यह सारा जगत निश्चय ब्रह्म है।

[बृहदारण्यकोपनिषत् अ० ४, ४ (१२)] "अयमस्मि" मैं परमात्मा हूँ।

[छान्दोग्योपनिषत् प्रपाठक सातवां, खण्ड १७२५]

(१७-२३) मनन, श्रद्धा, निष्ठा और कर्तव्य द्वारा सत्य ज्ञातव्य है। भूमा परमात्मा है।

२४ (१)—जो अन्य को नहीं देखता, नहीं सुनता और नहीं जानता, वह भूमा है। जो अन्य को देखता, सुनता और जानता है वह अल्प है। भूमा (अद्वैत ब्रह्म) अमृत है, अल्प मर्त्य है।

२५ (१-२) आत्मा सर्वत्र व्यापक है। (मुण्डकोपनिषत् ४४)।

द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥

दो चैतन्यात्मा पक्षी (आत्मा और परमात्मा) पृथक् न होने वाले मित्र एक वृक्ष (तरु, के समान वृक्ष शरीर) में व्यापक हैं। उनमें से एक पीपल के फल को सुस्वादु (समझकर) खाता है, (अथच) दूसरा न खाता हुआ उसको देखता है।

यहाँ जीवात्मा का परमात्मा निरीक्षक है, किन्तु वह संसार से अलिप्त है। परमात्मा जीवात्मा में व्यापक है अतः दोनों पृथक नहीं हो सकते। इस कारण वे मित्र हैं। यहाँ जीवात्मा जब परमात्मा से पृथक हो ही नहीं सकता और परमात्मा उसमें व्यापक भी है, तब उस जीवात्मा का पृथक अस्तित्व ही नहीं रह जाता, जिससे दो पक्षी तथा मित्रता के विचार समझाने भर को रह जाते हैं। जीवात्मा एक शक्ति मात्र रह जाता है और परमात्मा के शक्ति समूह होने से दोनों का पृथक अस्तित्व न रह कर ऊपर वाले मन्त्र की भाँति यहाँ भी अद्वैतवाद का ही पोषण समझ पड़ता है। उसकी पृथक सत्ता मानने से शक्ति मात्र होने पर द्वैतभाव भी सम्भव है।

गीता अ० १५, श्लो० १५—

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।

मैं सब के हृदय में भली भाँति स्थित हूँ, तथा मुझी से स्मरण, ज्ञान और तर्क है।

अन्तःकरण चतुष्टय जीवात्मा का बड़ा प्रमाण माना जाता है। उसे मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार कहते हैं। कहा जाता कि है यदि आत्मा न होता, तो इन चारों का आधार

अप्राप्त रहता। गीता में भी इस स्थान पर स्मृति, ज्ञान और अपोहन (तर्क) ईश्वर भव माने जाने से यह श्लोक भी अन्तः करण चतुष्टय द्वारा जीवात्मा के अस्तित्व के साक्षी होने के तर्क का पोषण करता है।

गीता अ० १५, सं० १३—

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।

मैं पृथ्वी में प्रवेश करके सामर्थ्य से समस्त भूतों को धारण करता हूँ।

यहां भी ईश्वर से लोक धारण के कथन द्वारा धृतिवाद का समर्थन है। धृतिवाद का कथन ईश्वरवाद में हो चुका है।

गीता अ० १३, श्लो० १६ तथा २१—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धयनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान्।
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान् गुणान्॥
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु।

(अष्टधा) प्रकृति और पुरुष (जीवात्मा) ये दोनों अनादि हैं, तथा विकार (परिणाम) और गुण (सत्व,रजादि) प्रकृति से उत्पन्न हैं। जीवात्मा प्रकृति ही में रह कर उसके गुणों का भोक्ता है, विविध गुणों के संग-वश उसका अच्छे अथवा बुरे शरीरों में जन्म होता है।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वर॥

(गीता अ० १५, सं० १६, १७)

संसार में क्षर और अक्षर ये दो पुरुष हैं। सब भूतों (दृश्य जड़ चेतन शरीरों) को क्षर कहते हैं और पर्वत के समान जो स्थित है वह अक्षर (जीवात्मा) है। इन दोनों से इतर उत्तम (सर्वश्रेष्ठ) पुरुष परमात्मा (पुरुषोत्तम) कहलाता है, जो अविनाशी स्वामी है और तीनों लोकों में व्याप्त होकर उनका पोषण करता है।

[बृहदा० अ० ४, ३ । ६] स्वप्नावस्था में आत्मा ही ज्योति है।

[बृहदा० अ० ४, ३ । १५] स्वप्न में पुरुष असंग है।

[छान्दोग्य० प्र० ११ (१)] वृक्ष में भी जीवात्मा है।

[मुण्डकोप० प्रथम मुण्डक, द्वितीय खंड, मन्त्र नवां] बुरे मनुष्य पशु आदि नीच योनियों में जन्म लेते हैं।

[ऐतरेयोप० ८६] विद्वान वामदेव अमृत (जन्म मरण रहित अर्थात् मुक्त) हुआ।

[छान्दोग्यो० अष्टम प्रपाठक, खंड १—३]

(१-६) परलोक के भोग-साधन पुण्यजित् लोक समय पर क्षय हो जाते हैं।

(२-१०) परलोक में पुण्यात्मा पुण्यबल से सब प्राप्य कामनायें पूर्ण कर सकता है।

(३-४) यह संप्रसाद (जीवात्मा) इस शरीर को त्यागकर पर ज्योति को प्राप्त हो, निज रूप में उसी में विचरता है जिसमें वह जीवात्मा स्थित होता है। वही आत्मा है, अमृत है, अभय है, ब्रह्म है और सत्य है।

[बृहदा० अ० २, ब्राह्मण ४, ५] ४ (११-१२) सम्पूर्ण पदार्थों का एक मात्र आशय परमात्मा है, तथा सारा संसार ब्रह्म की सत्ता में है।

माण्डूक्योपनिषत् २—
सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म, सोऽयमात्मा चतुष्पात्।

यह सब (सारा जगत) निश्चय करके ब्रह्म है। यह आत्मा (जीवात्मा) ब्रह्म है। वह यह आत्मा चार भागों वाला (अन्तःकरण चतुष्टय) है।

गीता अ० २, श्लो० २०, २२—
न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

शरीरी न कभी पैदा होता है न कभी मरता है, यह न कभी हुआ था, न फिर होने को है। यह अजन्मा, स्थायी, घटाव बढ़ाव से रहित और सनातन है, तथा मरने योग्य शरीर में नहीं मरता।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

जैसे मनुष्य पुराने कपड़े छोड़ कर अन्य नये लेता है, वैसे ही देही (शरीरी अर्थात् आत्मा) पुराने शरीरों को छोड़-छोड़ कर अन्य नवीन शरीरों में जाता है।

गीता अ० २, श्लो० २८—
अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारतः।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥

(यदि कहिये कि जीवात्मा के अस्तित्व के विषय में सन्देह बना ही रहेगा, तो) इन भूतों (उत्पन्न शरीरों) का

आदि अज्ञात है, मध्य ज्ञात है तथा मरने के पीछे का भी ब्योरा अज्ञात है, ऐसी दशा में (एक अधिकतर अनजानी हुई वस्तु शरीर के विषय में) शोक ही क्या किया जावे ?

बृहदा० ६-२०—

कर्म के कारण मनुष्य का पुनर्जन्म है, क्योंकि यदि ऐसा न हो, तो कृतनाश (किये हुए कर्मों के फल की अप्राप्ति) तथा अकृताभ्यागम (न किये की प्राप्ति) का दोष लगता है। जब पुण्य से अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, तब पुनर्जन्म नहीं होता ।

(छान्दो० प्रपाठक ३, खंड १६, मन्त्र ७) ऐतरेय ऋषि के पुत्र महीदास ब्रह्मचारी ११६ वर्ष जीवित रहे।

ईश्वर न तो कर्तापन बनाता है, न कर्मों या उनके फलों के मेल को, वरन (संसार में) यह सब आप से आप होता है।

गीता अ० ३, श्लो १६—

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥

इस प्रकार चलाये हुए (संसार) चक्र को जो इन्द्रियों में रमा हुआ पाप पूर्ण आयु वाला मनुष्य आगे नहीं चलाता (संसार परिचालन में सहायता नहीं करता) वह व्यर्थ ही जीता है।

व्याख्या

ईश्वर के अस्तित्व के प्रमाण पहले के लेख ईश्वरवाद में दिये जा चुके हैं तथा ईश्वर कैसा है, यह भी शास्त्रानुसार

दिखाया जा चुका है। यहाँ जीवात्मा और परमात्मा से सम्बद्ध कुछ शास्त्रीय वाक्य ऊपर दिये गए हैं। उनमें जीवात्मा के अस्तित्व सम्बन्धी कुछ प्रमाण हैं। संसार के सारे जीवित शरीर या तो घटक (Cell) हैं या उनके समूह। बड़े-बड़े शरीरों में करोड़ों, अरबों घटक रहते हैं जो प्रति क्षण जिया मरा करते हैं। शरीर के अंग काट कर उससे प्रथक किये जाने में भी कुछ काल जीवित रहकर क्रियायें करते हैं। पुत्रोत्पादन के प्रयत्न में वीर्य के साथ लाखों जीवाणु जाते हैं, जिनमें से कुछ जीवित रज-कणों से मिल कर नवीन शरीर बनाने में समर्थ होते हैं। केंचुए को किसी खास स्थान पर काटने से दो केंचुए बन कर दोनों जीते हैं। गन्नों आदि की एक-एक गांठ काट कर बोने से नवीन वृक्ष बनाये जाते हैं। अतएव एक एक बड़े शरीर में अरबों जीवित जीवाणु तो रहते ही हैं, वरन् नवीन पूर्ण शरीर बनाने वाले भी शरीर करोड़ों वर्ष तक वर्तमान रहते हैं, जिन सब में एक-एक जीवात्मा मानने से बुद्धि चकरा जाती है। एक शरीर में एक जीवात्मा तो समझ में आ भी जाता है, किन्तु एक-एक बार के वीर्य के साथ करोड़ों जीवात्माओं के बाहर जाने में कुछ सन्देह होने लगता है।

साधारण लोग समझते हैं कि जीव निकल जाने से वह शरीर बिलकुल बेकार हो जाता है। यह ग्रामीण विचार असत्य है। जब तक शरीर के सब मुख्य अवयव प्रस्तुत हैं तब-तक वह अवश्य जीवित रहेगा। मरने से पूर्व हृदय, मस्तिष्क, जिगर, (यकृत), फेंफड़ा [फुफ्फुस] गुर्दा, (वृक्क) आदि मुख्य अवयवों में से कोई न कोई नष्ट हो चुकता है और तब शरीर

मृत हो जाता है। अतएव जान निकल जाने का विचार बिलकुल वृथा है। जीवात्मा के अस्तित्व का सबसे बड़ा प्रमाण अन्तःकरण चतुष्टय है, किन्तु यह प्रश्न फिर भी रह जाता है कि इस चतुष्टय की जो शक्तियाँ हम देखते हैं वे जीवात्मा ही से प्राप्त हो सकती हैं या केवल मस्तिष्क से भी। अतएव अन्तःकरण चतुष्टय की महत्ता से जीवात्मा का अस्तित्व अन्त में पूर्ण तर्क पर आश्रित न होकर विश्वासात्मक रह जाता है। स्वप्नावस्था में कोई शक्ति जो काम करती है, वह अभी तक केवल मस्तिष्क की शक्तियों से पूर्णतया सुलभ नहीं सिद्ध हो सकी है। अतएव एक दृढ़ तर्क तो स्वप्नावस्था के कर्मों से प्राप्त होता है और दूसरा महर्षि याज्ञवल्क्य वाले कृत नाश और अकृताभ्यागम सम्बन्धी विचारों से। हम देखते हैं कि संसार में उत्पन्न कई जीवधारी सबल, निर्बल, धनी, निर्धन, भाग्यवान, हतभाग्य आदि जन्म से ही होते हैं। अतएव यदि पूर्व जन्म के कोई भी कारण इस सम्बन्ध में न हों तो ईश्वर के अन्यायी होकर उसके राज्य में दुष्प्रबन्ध का दूषण लगेगा। इसी भाँति जब इसी जन्म में कुकर्मों और सुकर्मों के फल मिलते हुए हम सदैव नहीं देखते, तब ऐसे फल यदि पुनर्जन्म में भी न मिलें, तो ईश्वर के राज्य में दूसरा दुष्प्रबन्ध मिलता है। अतएव कृतनाशादि तथा स्वप्न सम्बन्धी तर्क जिसे सन्तुष्ट न करें, उसके लिये जीवात्मा का अस्तित्व विश्वासात्मक मात्र रहेगा।

स्वामी शंकराचार्य ईश्वरीय अद्वैतभाव मानकर जीवात्मा की सत्ता व्यावहारिक मात्र बतलाते हैं, जिससे उसकी वास्तविक सत्ता कट जाती है। यद्यपि ऐसा वे कहते नहीं हैं फिर भी

उनकी तर्कावली देखने से जीवात्मा की वास्तविक सत्ता उनके अनुसार वाग्जाल मात्र समझ पड़ने लगती है। तथापि सांसारिक पदार्थ सब शक्ति समूह-मात्र होकर भी वास्तविक सत्ता अनन्तकाल से रखते हैं। इसी प्रकार जीवात्मा भी शक्ति समूह होकर सत्ता रख सकता है, केवल ईश्वर के शक्ति समुदाय होने से उससे पृथक कोई सत्ता (existence) नहीं है। इन सब बातों के सोचने से अद्वैतवाद जीवात्मा की सत्ता से प्रतिकूल नहीं पड़ता, ऐसा जान पड़ता है। ऊपर के कई अवतरणों से कितने ही उपर्युक्त विचार समर्थित हो जाते हैं। यहाँ वही बात दोहराने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि थोड़ा सा ध्यान देने से प्रत्येक पाठक स्वयं ये बातें समझ लेगा। अब हम कुछ अपने छन्द यहाँ लिखते हैं। उनमें दोनों पक्षों के तर्क उन्हीं के अनुसार कहे गए हैं। हमारे अन्तिम विचार ऊपर लिखे गए हैं। हमारी समझ में तर्क से भी जीवात्मा का अस्तित्व प्रमाणित है।

छन्द

जीवन समुद्र लहरात जग देहनि में,
एक जीव को पै कहूँ लेस न लखात है।
गरभ के पहिले त्यों मरन पिछारू कैसे,
रहे कहाँ जैहैं नहिं जानिबे की बात है॥
पुल पर ठाढ़े तो अवश्य हैं पै कैसे आये,
जैहैं कहाँ नहीं कछु चित में समात है।
होत परिवर्तन रहत सदाहीं, काल,
अशना को रूप धरि देहनि को खात है॥१॥

ज्ञान जो विज्ञान को बिचारो मन में तौ,
मौत उतपति वारी सबै वातें हल होती हैं।
देहन के नसे ते नसैं न पंचभूत,
एक रूप के नसे तें अन्य हेत बीज बोती हैं॥
रूप को बदलिवोई जीवन मरन जानो,
देहैं एक अणुहू नसे ते नहिँ खोती हैं।
खेलो करें तेई परिवर्तन वारो खेल,
आतमा कहाँ सों लै सरीर में पिरोती हैं॥२॥

परमाणु मूलक लखात है जहान सब,
परमाणु हू को केन्द्र सकति को जानियै।
सकति सों इतर कछू न दरसात इत,
सिगरो जगत खेल ताही को प्रमानियै॥
सकति समूह सोई राजि जगदीस रह्यो,
एतोई अद्वैत मत शंकर को मानिये।
याई जीव गुने ते गिरत सो अमोघ मत,
ईस में लगति लघुताई दुख दानिये॥३॥

व्यवहार मूलक सरूप हैं जगतवारे,
रूप में लखात नहीं साँची थिरताई है।
शंकर जू व्यवहार जीव में लगावत जो,
तामें संक पूरित सरक दरसाई है॥
जीव तौ कबहुँ व्यवहार में न आवत है,
अनुभव माहिँ छटा सकति की छाई है।
छाँड़ि व्यवहार भाव मानौ जो अद्वैत मत,
यामें तो विज्ञानवारी छाप हू सुहाई है॥४॥

हैं। यह भी प्रकट किया जाता है कि बहुतेरे बच्चों ने अपने प्राचीन जन्म वाले सम्बन्धियों मकानों आदि को बिना इस जन्म में जाने हुए ही पहिचाना तथा बतलाया है। इन बातों से आवागमन तथा जीवात्मावाद स्वयं सिद्ध है। फिर भी यह सन्देह रह जाता है कि चमत्कार प्रदर्शन के कुछ प्रेमी लोग पहले बच्चों को चुपके चुपके समझा बुझा कर और मनुष्यों एवं वस्तुओं को दिखला कर पीछे से ऐसे मामले निकाल सकते हैं। भूतों के देखने वाले या उन के द्वारा इतर चमत्कारों के द्रष्टाओं के विषय में भी भय अथवा समुचित ज्ञान शून्यता या चमत्कार प्रेम के विचार जोड़े जा सकते हैं।

कुछ पंडितों ने मनुष्य के अवशिष्टांग (the survival of man) पर ग्रन्थ तक बनाये हैं। उन्होंने दिखाया है कि अकथित विचार मात्र कुछ लोग पढ़ लेते हैं। इस विषय की सत्यता के कई पुष्ट प्रमाण मिले हैं। यदि यह सत्य हो तो मानसिक विचारों मात्र की पृथक् सत्ता सिद्ध हो जाती है। ऐसे ही कई अन्य चमत्कार दिखाये जाना कहा जाता है। जब विचारों तक की पृथक् सत्ता होगी, तब जीवात्मा का अस्तित्व समझ में आता ही है। मरने वाले सम्बन्धियों के कुछ मामले अपने प्रिय कुटुम्बियों पर हजारों मीलों की दूरियों पर प्रकट होते हमने सुने हैं। हम दोनों लेखकों की बड़ी बहिन का शरीरान्त लगभग ७० वर्ष की अवस्था में १० व ११ मार्च सन् १९४० वाली रात को लगभग ३ बजे लखनऊ में हुआ। उस रात को ज्येष्ठ लेखक दिल्ली में थे तथा कनिष्ठ घर पर ही, जहाँ बहिन का शरीरान्त हुआ। कनिष्ठ को तो कोई विशेष बात ज्ञात नहीं हुई किन्तु ज्येष्ठ बन्धु बहिन की ठीक मृत्यु के समय यकायक जाग पड़े।

तथा उन्हें भासित हुआ कि वे मर गई हैं। यह घटना भी इतरों द्वारा कथित चमत्कारों के समान है। हो सकती है आकस्मिक भी, किन्तु है चमत्कारपूर्ण। भूतात्माओं के विषय पर श्रम करने वाले मेजों वाले पायों के खटकाने से कई प्रकार के प्रश्नों के उत्तर भूतात्मा द्वारा दिलाना कहते हैं। हम (कनिष्ठ लेखक) भी एक बार अपने मृत ज्येष्ठतम बन्धु तथा पिता की आत्माओं को बुलवाकर कई प्रकार के ठीक उत्तर प्राप्त करके पहले तो बहुत प्रभावित हुए, किन्तु पीछे विचार करने से समझ पड़ा कि वे जाने हुए हमी लोगों की इच्छा शक्ति काम करके मेज के खटकाने के द्वारा उचित उत्तर प्राप्त कर लेती हैं।

प्लैंचेट एक प्रकार की छोटी सी कल होती है जिसमें आँख बन्द करके यों ही हाथ चलाते हुए लिखते जाने से वह कुछ साधारण प्रश्नों के ठीक उत्तर दे देती है। हमारे एक मित्र उच्च सरकारी नौकर थे। उनकी श्रीमती जी ने हमारे सामने आँख बन्द करके प्लैंचेट द्वारा उत्तर लिखा तो अकस्मात ठीक नाम लिखा गया। साहब बहादुर बोले कि उनकी अनजानी मानसिक शक्ति ने काम करके ठीक उत्तर लिख दिया, तथा वे कहती रहीं कि उन्होंने थोड़ा भी प्रयत्न लिखने का न करके केवल हाथ चलाया था। कुछ लोग कोरे कागज पर केवल भाव चित्र ध्यान मात्र द्वारा अंकित होने से यदि वह कोरा कागज घंटे आध घंटे के अन्दर उन्हें दिखलाया जावे तो बतला देंगे कि वह किसका भाव चित्र था। यह बात हमारे सामने की नहीं है। लन्दन में प्रकाशित एक समाचार-पत्र आध घंटे के अन्दर बम्बई में मैडेम ब्लैवेटस्की ने मंगा दिया था ऐसा लोग कहते हैं। फिर भी इन बातों पर लोग दृढ़ विश्वास नहीं कर

हैं। यह भी प्रकट किया जाता है कि बहुतेरे बच्चों ने अपने प्राचीन जन्म वाले सम्बन्धियों मकानों आदि को बिना इस जन्म में जाने हुए ही पहिचाना तथा बतलाया है। इन बातों से आवागमन तथा जीवात्मावाद स्वयं सिद्ध है। फिर भी यह सन्देह रह जाता है कि चमत्कार प्रदर्शन के कुछ प्रेमी लोग पहले बच्चों को चुपके चुपके समझा बुझा कर और मनुष्यों एवं वस्तुओं को दिखला कर पीछे से ऐसे मामले निकाल सकते हैं। भूतों के देखने वाले या उनके द्वारा इतर चमत्कारों के द्रष्टाओं के विषय में भी भय अथवा समुचित ज्ञान शून्यता या चमत्कार प्रेम के विचार जोड़े जा सकते हैं।

कुछ पंडितों ने मनुष्य के अवशिष्टांग (the survival of man) पर ग्रन्थ तक बनाये हैं। उन्होंने दिखाया है कि अकथित विचार मात्र कुछ लोग पढ़ लेते हैं। इस विषय की सत्यता के कई पुष्ट प्रमाण मिले हैं। यदि यह सत्य हो तो मानसिक विचारों मात्र की पृथक् सत्ता सिद्ध हो जाती है। ऐसे ही कई अन्य चमत्कार दिखाये जाना कहा जाता है। जब विचारों तक की पृथक् सत्ता होगी, तब जीवात्मा का अस्तित्व समझ में आता ही है। मरने वाले सम्बन्धियों के कुछ मामले अपने प्रिय कुटुम्बियों पर हजारों मीलों की दूरियों पर प्रकट होते हमने सुने हैं। हम दोनों लेखकों की बड़ी बहिन का शरीरान्त लगभग ७० वर्ष की अवस्था में १० व ११ मार्च सन् १९४० वाली रात को लगभग ३ बजे लखनऊ में हुआ। उस रात को ज्येष्ठ लेखक दिल्ली में थे तथा कनिष्ठ घर पर ही, जहाँ बहिन का शरीरान्त हुआ। कनिष्ठ को तो कोई विशेष बात ज्ञात नहीं हुई किन्तु ज्येष्ठ बन्धु बहिन की ठीक मृत्यु के समय यकायक जाग पड़े।

तथा उन्हें भासित हुआ कि वे मर गई हैं। यह घटना भी इतरों द्वारा कथित चमत्कारों के समान है। हो सकती है आकस्मिक भी, किन्तु है चमत्कारपूर्ण। भूतात्माओं के विषय पर श्रम करने वाले मेजों वाले पायों के खटकाने से कई प्रकार के प्रश्नों के उत्तर भूतात्मा द्वारा दिलाना कहते हैं। हम (कनिष्ठ लेखक) भी एक बार अपने मृत ज्येष्ठतम बन्धु तथा पिता की आत्माओं को बुलवाकर कई प्रकार के ठीक उत्तर प्राप्त करके पहले तो बहुत प्रभावित हुए, किन्तु पीछे विचार करने से समझ पड़ा कि वे जाने हुए हमी लोगों की इच्छा शक्ति काम करके मेज के खटकाने के द्वारा उचित उत्तर प्राप्त कर लेती हैं।

प्लैंचेट एक प्रकार की छोटी सी कल होती है जिसमें आँख बन्द करके यों ही हाथ चलाते हुए लिखते जाने से वह कुछ साधारण प्रश्नों के ठीक उत्तर दे देती है। हमारे एक मित्र उच्च सरकारी नौकर थे। उनकी श्रीमती जी ने हमारे सामने आँख बन्द करके प्लैंचेट द्वारा उत्तर लिखा तो अकस्मात ठीक नाम लिखा गया। साहब बहादुर बोले कि उनकी अनजानी मानसिक शक्ति ने काम करके ठीक उत्तर लिख दिया, तथा वे कहती रहीं कि उन्होंने थोड़ा भी प्रयत्न लिखने का न करके केवल हाथ चलाया था। कुछ लोग कोरे कागज पर केवल भाव चित्र ध्यान मात्र द्वारा अंकित होने से यदि वह कोरा कागज घंटे आध घंटे के अन्दर उन्हें दिखलाया जावे तो बतला देंगे कि वह किसका भाव चित्र था। यह बात हमारे सामने की नहीं है। लन्दन में प्रकाशित एक समाचार-पत्र आध घंटे के अन्दर बम्बई में मैडेम ब्लैवेटस्की ने मंगा दिया था ऐसा लोग कहते हैं। फिर भी इन बातों पर लोग दृढ़ विश्वास नहीं कर

ऐसा किया गया है। इतने में मैं जाग पड़ा तो बड़ी चिन्ता हुई। दूसरे दिन जब भाई साहब ने आकर हाल बतलाया और हमारे स्वप्न का हाल सुना तो इन आकस्मिक घटनाओं पर महदाश्चर्य हुआ और प्रीति पूर्ण जीवात्माओं में संकट के समय शरीर के अतिरिक्त भी विचार विनिमय का भाव उठा मानों एक प्रकार से ज्येष्ठ बन्धु ने सोते ही में कनिष्ठ बन्धु को २५० मील की दूरी से अपना संकट बतला दिया। इसी प्रकार मेरे छोटे भतीजे की धोती में एक बार आग लग गई और उसका कटि प्रदेश जला जा रहा था किन्तु केवल सात वर्ष का बच्चा होने से वह कुछ कह न पाता था। उसी समय उसकी माता ने पड़ौस के दूसरे मकान से आप ही आप कहा कि मेरा बच्चा जला जा रहा है। उन्होंने तुरन्त दौड़ कर घर आ कर वह आग बुझा दी। फिर भी शरीर को इतना कष्ट हो चुका था कि दो तीन महीनों के डाक्टरी इलाज से बच्चा अच्छा हुआ। यह भी आत्मा के सम्बन्ध वाली घटना थी जो बहुत कुछ प्रमाणित कर सकती है।

परिणाम

अन्तःकरण चतुष्टय है तो प्रबल प्रमाण, किन्तु पूरा निश्चय नहीं बैठता कि वे क्रियायें केवल मस्तिष्क की न होकर जीवात्मा ही की हैं। स्वप्न सम्बन्धी विचारों पर भारतीय पंडितों ने जीवात्मा परमात्मा सम्बन्धी कई निष्कर्ष निकाले हैं, किन्तु यह भी कहा जा सकता है कि अर्ध सुषुप्तावस्था में मस्तिष्क काम करके भाँति भाँति के खेल दिखाता है। अभी तक हमें कोई ऐसा पंडित नहीं मिला जिसने इस विषय पर पूर्ण निश्चय करा दिया

पाते। यदि इनमें से कोई बात ठीक हो, तो जीवात्म वाद दृढ़ हो ही जाता है। एक बार एक विलायती लड़की धारा प्रवाह से ऐसी भाषा में बोलने लगी जिसे उसने सीखा ही न था। पीछे से लोगों ने इसका उत्तर यह निकला कि वह चिरकाल तक एक ऐसे विद्वान् की सेविका रही थी जो उस भाषा में उसके सामने बोला करता था। उधर जीवात्मावादियों का कहना था कि उस बालिका का यह ज्ञान पूर्व जन्म का था। इतने पर भी यदि ऐसी बातों पर जीवात्मवाद की दृढ़ता आधारित की जाय, तो शायद कोई मानने को प्रस्तुत न हो।

स्वानुभव

हम मिश्रवन्धुओं में ज्येष्ठ भ्राता रावराजा ने कनिष्ठ से कह रक्खा था कि अन्त समय वे पलंग से पृथ्वी पर उतारे न जायें वरन् पलंग पर ही शरीरान्त होने दिया जाय। एक बार १६ जनवरी १६४२ की रात को वे टीकमगढ़ से रेल द्वारा घर जा रहे थे कि झांसी के निकट पाँव में आकस्मिक इतना भयानक दर्द हुआ कि प्राय: एक घंटे तक उनकी यही धारणा रही कि शरीरान्त हो रहा है।

अकस्मात् उसी समय उसी रात को मुझ कनिष्ठ बन्धु ने यह स्वप्न देखा कि मानो उनका अन्त समय आ गया और मैंने उन्हें पलंग से पृथ्वी पर उतार दिया है। इतने ही में वे होश में आकर मुझ से पूछने लगे कि उनकी प्रकट इच्छा के प्रतिकूल ऐसा क्यों किया गया? मैंने स्वप्न ही में उत्तर दिया कि नीचे उतारा नहीं है, वरन् पलग की चद्दर बदलने भर को

ऐसा किया गया है। इतने में मैं जाग पड़ा तो बड़ी चिन्ता हुई। दूसरे दिन जब भाई साहब ने आकर हाल बतलाया और हमारे स्वप्न का हाल सुना तो इन आकस्मिक घटनाओं पर महदाश्चर्य हुआ और प्रीति पूर्ण जीवात्माओं में संकट के समय शरीर के अतिरिक्त भी विचार विनिमय का भाव उठा मानों एक प्रकार से ज्येष्ठ बन्धु ने सोते ही में कनिष्ठ बन्धु को २५० मील की दूरी से अपना संकट बतला दिया। इसी प्रकार मेरे छोटे भतीजे की धोती में एक बार आग लग गई और उसका कटि प्रदेश जला जा रहा था किन्तु केवल सात वर्ष का बच्चा होने से वह कुछ कह न पाता था। उसी समय उसकी माता ने पड़ौस के दूसरे मकान से आप ही आप कहा कि मेरा बच्चा जला जा रहा है। उन्होंने तुरन्त दौड़ कर घर आ कर वह आग बुझा दी। फिर भी शरीर को इतना कष्ट हो चुका था कि दो तीन महीनों के डाक्टरी इलाज से बच्चा अच्छा हुआ। यह भी आत्मा के सम्बन्ध वाली घटना थी जो बहुत कुछ प्रमाणित कर सकती है।

परिणाम

अन्तःकरण चतुष्टय है तो प्रबल प्रमाण, किन्तु पूरा निश्चय नहीं बैठता कि ये क्रियायें केवल मस्तिष्क की न होकर जीवात्मा ही की हैं। स्वप्न सम्बन्धी विचारों पर भारतीय पंडितों ने जीवात्मा परमात्मा सम्बन्धी कई निष्कर्ष निकाले हैं, किन्तु यह भी कहा जा सकता है कि अर्ध सुषुप्तावस्था में मस्तिष्क काम करके भाँति भाँति के खेल दिखाता है। अभी तक हमें कोई ऐसा पंडित नहीं मिला जिसने इस विषय पर पूर्ण निश्चय करा दिया

हो। केवल कृतनाश तथा अकृताभ्यागम का विचार ऐसा रह जाता है जो काटे नहीं कटता। कोई चाहे उससे सन्तुष्ट भले ही न हो, किन्तु है प्रबल युक्ति। गीता में भगवान् ने भी कहा है कि जिसे जीवात्मा के अस्तित्व में सन्देह बना ही रहे, उसे ऐसा जानना चाहिये कि जीवन मरण का यह सांसारिक चक्र जब रोके रुकेगा नहीं, तब यदि और नहीं तो शोक ही न करे, अर्थात् निराशावाद के घोर गर्त में तो न पड़े। फिर भी मानना ही पड़ेगा कि इस विषय पर विश्वास न करने वाले के सामने घोर निराशावाद अवश्य मुँह फैलाये खड़ा रहेगा, क्योंकि जब भविष्य के लिये शुभाशुभ कर्मों का फलाफल असिद्ध है, तो चोरी से बुरे काम करने में हानि ही क्या है ? ऐसा होने से धार्मिक पक्ष की कमर टूटती है तथा संसार परिचालन में घोर विषमता अथच दुष्प्रबन्ध का समावेश होता है। देखने से समझ पड़ता है कि कृतनाशादि के अतिरिक्त कई अन्य तर्क तथा घटनायें भी जब सिद्धि के बहुत निकट पहुँच जाती हैं, तब सारी बातों पर ध्यान देने से और नहीं तो जीवात्मवाद पर दृढ़ विश्वास परम योग्य, एवं अपनी मानसिक शान्ति, तथा संसार के चारु परिचालन दोनों के लिए आवश्यक है, क्योंकि इस उपयोगितावाद के अतिरिक्त तर्क का भी थोड़ा बहुत प्राबल्य अस्तित्व ही की ओर झुकता है।

अध्याय ६

श्रीमद्भगवद्गीता पर एक दृष्टि

श्रीमद्भगवद्गीता हिन्दू धर्म का एक बड़ा ही ज्वलन्त मुकुट ग्रन्थ है। इसमें ७०० श्लोक एवं १८ अध्याय हैं। कृष्णार्जुन सवाद के रूप में यह कथा है। पहले अध्याय के ४७ श्लोक और दूसरे के दसवें छन्द पर्यन्त केवल भूमिका है। अर्जुन सम्बन्धियों तथा मित्रों से युद्ध नहीं करना चाहता था। दूसरे अध्याय के शेष ६२ श्लोकों में सांख्ययोग का विषय कहा गया है। गीता के आरम्भ में श्रीभगवानुवाच के आने से भागवत धर्म से गीता के मेल का समर्थन सा होता है। विषय वर्णन जीवात्मा के अनाशित्व से प्रारम्भ होता है। यदि जीवात्मा शरीर से प्रथक् कुछ है, तो उसका प्रादुर्भाव असत् से नहीं हो सकता था। पर यदि उसे नित्य जात और नित्यमृत मानो, तो भी कोई शोक करना योग्य नहीं है, क्योंकि उत्पत्ति और मृत्यु संसार का नियम ही है। गीता में आत्मा अविनाशी, नित्य, अज और अव्यय कहा गया है (श्लोक २१)। यह सांख्य के आत्मयोग की कथा है। "योगः कर्मसु कौशलम्" [श्लोक ५०]। स्थित प्रज्ञा इसी से प्राप्य है। यहाँ उसका विवरण दिया गया है और वह ब्राह्मी स्थिति [श्लोक ७२] कही गई है। जो कोई सुख दुःख से हर्षित अथवा विचलित नहीं होता, उसे स्थित प्रज्ञ कहते हैं। यहीं दूसरा अध्याय समाप्त होता है। तीसरे अध्याय में ४३ श्लोक हैं और वह

कर्मयोग का है। लोकमान्य तिलक ने लिखा है कि, गीता के मतानुसाय ज्ञानयोग से कर्मयोग श्रेष्ठतर है। हमारा मत इस कथन से प्रायः मिलता है। यह हम भी मानते हैं कि, शुद्ध कर्मयोग संसार के लिये ज्ञानयोग से विशेष लाभ प्रद है। फिर भी गीता में कहीं कहीं ज्ञानयोग का ही ऊंचा सोपान है:—

लोकेऽस्मिनन् द्विविधा निष्ठापुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ ३ ॥

हे निष्पाप! इस संसार में मैंने पहले ही दो प्रकार की निष्ठा कही है, अर्थात् सांख्यवालों की ज्ञानयोग से तथा योगियों की कर्मयोग से।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च सन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥

विना कर्मों का अनुष्ठान किये कोई पुरुष निष्कर्म तक नहीं पहुँच सकता और न केवल संसार से सिद्धि मिल सकती है।

नियतं कुरु कर्मत्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीर यात्रपि च ते न प्रसिद्धये दकर्मणः ॥ ८ ॥

तुम नियत किये हुए कर्मों को करो, अकर्म (निष्क्रियपन) से कर्म अच्छा है, कुछ कर्म न करने से तुम्हारी शरीर यात्रा भी नहीं चल सकती।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानु वर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥ १६ ॥

जो इस चलते हुए चक्र का अनुगमन नहीं करता अर्थात् संसार चक्र को उचित प्रकार से आगे नहीं बढ़ाता, इन्द्रियों में रमण करने वाले उस पापी का जीवन वृथा है।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥ २० ॥

जनकादि ने कर्म करके ही सिद्धि पाई। तुम्हें भी योग्य है। कि, तत्व देखते हुए संसार यात्रा चलाओ।

यस्त्वात्मरतिरेवस्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्यकार्यं न विद्यते ॥ १७ ॥

आत्मा में ही जिसकी अनुरक्ति है, आत्मा में ही जो तृप्त है तथा आत्मा ही में जो सन्तुष्ट है, उसके लिए कोई कार्य नहीं है। प्रयोजन यह है कि, एक ऊँची सीमा तक के लिये कर्म आवश्यक है, किन्तु जो मनुष्य उससे भी आगे बढ़ गया है, उसके लिए नहीं। श्लोक छः में भी नैष्कर्म्य एक ऊँचा दर्जा माना गया है, किन्तु आरम्भ में विना कर्म किये वह भी अन्त में अप्राप्य कहा गया है। अतएव इन श्लोकों में कर्म का दर्जा आरम्भिक है और नैष्कर्म्य का ऊँचा। फिर भी कई जन्मों तक मनुष्य कर्म-योगी रहकर "बहूनां जन्मनामन्ते" यदि पूर्ण ज्ञान पा जाय, तो भी मोक्ष पाता है। इसमें केवल कहने भर के लिए ज्ञानयोग की श्रेष्ठता है, जन्म जन्मातर तक मनुष्य को कर्मयोगी ही रहना पड़ता है।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ १८ ॥

ऐसे ज्ञानी पुरुष को कुछ करने से पुण्य और न करने से पाप नहीं होता और उसे किसी की शरण लेने की आवश्यकता नहीं है।

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषुलोकेषुकिंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ २२ ॥

"हे अर्जुन! मेरे लिए तीन लोक में भी कुछ करणीय नहीं, क्योंकि मैं ऊँचे से ऊँचे दर्जे को प्राप्त हो चुका हूँ। कोई ऐसा द्रव्य नहीं जो मुझे अप्राप्त हो या हो सके, परन्तु फिर भी मैं कर्म में वर्तमान हूँ। मेरे ऐसा न करने पर और लोक भी कर्म छोड़ न देवें, इस विचार से मैं कर्म में प्रवृत्त हूँ।" यहाँ पर यह दिखलाया गया है कि, यद्यपि कोई व्यक्ति उच्चातिउच्च सोपान पर पहुँच जाय, और उसके नैष्कर्म्य से उसे कोई दोष नहीं, तथापि यह दूसरों के लिये फिर भी कर्म में प्रवृत्त रहे। चौथे अध्याय में ब्रह्मार्पण योग का कथन ४२ श्लोकों में है। यहाँ पहले अवतार का कथन आया है।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥ ८ ॥

हे भारत! जब जब धर्म की ग्लानि तथा अधर्म का अभ्युत्थान होता है, तब तब मैं अपने को बनाता हूँ। साधुओं की रक्षा करने, दुष्कर्मियों का विनाश करने, तथा धर्म की भली भाँति स्थापना करने के लिए मैं युग युग में उत्पन्न होता हूँ। यहाँ

यह नहीं कहा गया है कि, ईश्वरीय उत्पत्ति किस भाँति होती है, समग्रांश या खंडांश से। इस विषय का कथन आगे के अध्याय में है:—

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धय ।
परंभाव यजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥
चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण कर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्धयकर्तारमव्ययम् ॥ १३ ॥

मैंने गुण कर्म के विभाजन में चारों वर्णों को रचा है। उनके रचयिता भी मुझे अकर्ता तथा अव्यय जानो। प्रयोजन यह है कि, ईश्वर चातुर्वर्ण्य को स्वर्णकार जैसे अलंकार बनाता है वैसे नहीं रचता, अपितु सारा संसार ईश्वरीय शक्तियों से आप से आप चल रहा है। अतएव वास्तव में कर्ता होकर भी जैसे कर्ता हम लोग समझते हैं, उस दृष्टि से वह अकर्ता है।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्ध कर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥ १९ ॥
त्यक्त्वाकर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥२० ॥

जिसके सारे प्रयत्न कामना के संकल्प से रहित हैं, तथा ज्ञान रूपी अग्नि से जिसके कर्म जल गये हैं, उसी को बुद्धिमान् लोग पंडित कहते हैं। जो कर्म के फलों से आसक्ति छोड़कर सदा मन से सन्तुष्ट और निरावलम्ब रहता है, वह कर्म करता हुआ भी कुछ भी नहीं करता।

समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥ २२ ॥

जो सिद्धि और असिद्धि में समान रहता है, वह कुछ करके भी बन्धन में नहीं पड़ता।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ३३ ॥

हे परंतप ! वस्तुयज्ञ से ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है, क्योंकि हे पृथा पुत्र ! सब कर्मों की समाप्ति ज्ञान ही में होती है, किन्तु यह दर्जा जन्म जन्मान्तर के पीछे आता है।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥ ३८ ॥

संसार में ज्ञान के समान पवित्र कुछ नहीं है । योग सिद्धि उस ज्ञानी को समय पर आप ही प्राप्त हो जाती है। इस अध्याय में कर्मयोग तथा ज्ञानयोग के विषय मे अधिक वर्णन नहीं है, किन्तु ज्ञान का दर्जा सब से ऊँचा बताया गया है। पाँचवें अध्याय मे २६ श्लोको द्वारा संन्यास योग का कथन है।

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्म संन्यासात्कर्म योगो विशिष्यते ॥ २ ॥

संन्यास और कर्मयोग दोनों निश्चयपूर्वक श्रेय के प्राप्त करने वाले हैं। उन दोनों मे भी कर्म संन्यास से कर्मयोग की विशेषता है। भगवान् इन दोनों से एक फल मानते हुए और इन्हें पृथक न बतलाते हुए भी, इनमें से एक की श्रेष्ठता उचित ही कहते हैं, क्योंकि संन्यासी वह है जो न किसी से द्वेष करे न अपने लिए कुछ चाहे। ऐसा सीधा मनुष्य भी यदि कोई कार्य न करे, तो उसका होना न होना बराबर है। कर्मों में कुशलता को योग कहा गया है । अतएव सन्यास के सद्गुण तभी चमकते हैं, जब वह योग से भी मिलता है।

ज्ञेयः स नित्य संन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति ॥ ३ ॥

वही नित्य संन्यासी है जो न तो किसी से शत्रुता करे न अपने लिए कुछ चाहे। नित्य से प्रयोजन यह है कि, उसमें ऐसे भाव सदा रहें।

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पंडिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ४ ॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ५ ॥

पंडित नहीं वरन् बालक सांख्य और योग को पृथक् समझते हैं। जो कोई इन दोनों में से एक को भली भाँति अवगत कर लेता है, वह दोनों के फल पाता है। जो पद सांख्य से मिलता है वही योग से भी मिलता है। जो सांख्य और योग को एक समझता है, वही वास्तविक द्रष्टा है।

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ १७ ॥

उस ब्रह्म में जिनकी बुद्धि लगी है, तथा उसी में आत्मा भी लगी है, उसी में विश्वास है और उसी में चित्त लगा है, तथा ज्ञान से जिनके पाप धुल गये हैं, वे फिर न पलटने वाली वृत्ति को पाते हैं। जीवात्मा तथा द्रव्यात्मक परमाणु सब शक्ति रूप होने से ईश्वरांश ही है, पर यहाँ केवल उनका अस्तित्व मात्र माना गया है। यदि आत्मा का पृथक् अस्तित्व भी न रहे तो मानो वह पूर्णतया मर गया। हमारे स्थूल शरीर के पंचभूत तो मरने पर भी कहीं जाते नहीं, वरन् सांसारिक इतर पंचभूतों में

मिल जाते हैं, जिसे हम एकाकार के विनाश से मौत मान कर डरते हैं। यदि मरने के पीछे आत्मा कोई जन्म धारण करे ही नहीं, तो उसका पृथक् अस्तित्व ही न रह जावेगा, क्योंकि सत्ता का आधार कर्म है जो विना शरीर प्राप्ति के जीवात्मा करता ही नहीं।

छठे अध्याय में ४७ श्लोकों द्वारा आत्मसंयम योग का कथन है। पिछले अध्याय में कर्मयोग का विशेष कथन था, किन्तु यहाँ उससे भी बढ़कर ज्ञानयोग की प्रधानता है।

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥ १ ॥

केवल अग्नि छोड़ने वाला (सन्यासी) या अक्रिय (कुछ भी न करने वाला) सन्यासी और योगी नहीं है वरन् वह है जो कर्म फल का सहारा छोड़कर कर्म करता है।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारण मुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारण मुच्यते ॥ ३ ॥

जो विचारवान् पुरुष योग प्राप्ति की इच्छा करता है, उसके लिए कर्म का अवलम्बन है, किन्तु जो योगारूढ़ (पूर्ण योगी) हो चुका है उसके लिए कर्म त्याग का अवलम्बन है।

यदाहिनेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्व संकल्प संन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥

योगारूढ़ उसे कहते हैं जो न तो इन्द्रियों के सुखों में रत हो न कर्मों में, तथा सब संकल्पों (इरादों) को छोड़ चुका हो। इसके आगे ध्यान धारणा के नियमों और प्रकारों का कथन है।

ध्यान योगी के लिए कहा गया है, 'न किञ्चिदपि चिन्तयेत्' (२५), अर्थात् किसी भी विचार को मन में न लावे। यही योग साधन का नियम है।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ २८ ॥

अपने को सदा इस प्रकार लगाते हुए निष्पाप योगी प्रसन्नता पूर्वक ब्रह्म के छूने वाला सब से बड़ी सीमा का सुख प्राप्त करता है।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ ३० ॥

जो मुझे सब कहीं (सब में) तथा सब को मुझमें देखता है, उससे मैं कभी अदृश्य नहीं रहता और न वह मुझसे अदृष्ट होता है।

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय, वैराग्येण च गृह्यते ॥ ३५ ॥

हे भारी बाहुओं वाले वीर! निश्चय पूर्वक मन कठिनता से पकड़े जाने योग्य तथा चंचल है, किन्तु हे कुन्ती पुत्र! वह भी अभ्यास और वैराग्य से वश में लाया जा सकता है।

तपस्विभ्योऽधिको योगी, ज्ञानिभ्योऽपिमतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी, तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ ४६ ॥

योगी पुरुष तपस्वियों, ज्ञानियों तथा कर्मनिष्ठों, में सब से अधिक है। इससे हे अर्जुन! तुम योगी बनो। यहाँ तपस्या,

ज्ञानयोग, कर्मयोग आदि सब पूर्ण योग के साधन मात्र माने जाकर योग की रचना का कथन करते हैं। इसी स्थान पर ज्ञानयोग, कर्मयोग और योगारूढ़ का कथन समाप्त होता है।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ ४५ ॥

छठे अध्याय के इस श्लोक में आवागमन का खासा विचार है।

सातवें अध्याय के श्लोकों में फिर ज्ञानयोग का कथन है; किन्तु प्रधानतः ईश्वर का वर्णन है।

मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७ ॥

डोरे में मणियों के समान सारा जगत मुझ ईश्वर में गुथा हुआ है। यह समता अच्छी नहीं है।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ १६ ॥
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥ १८ ॥

हे अर्जुन! चार प्रकार के पुण्यात्मा मुझे भजते हैं, अर्थात् आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी। ये चारो उदार हैं, पर ज्ञानी मानो मेरी आत्मा ही है, ऐसा मेरा मत है., क्योंकि वह श्रेष्ठतम गति रूप मेरे ही आश्रय में स्थित है।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ १९ ॥

कई जन्मों के अन्त में ज्ञानी मुझमें ऐसा जान कर लगाता है कि यह सारा संसार वासुदेव ही हैं।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ २४ ॥

बुद्धिहीन लोग मुझ अविनाशी सर्वोत्तम का सर्वोत्कृष्ट विचार न जानते हुए मुझ अव्यक्त (किसी एक शरीर मात्र में व्याप्त न होने वाले) को एक व्यक्ति में आया हुआ जानते हैं। आठवें अध्याय में २८ श्लोकों द्वारा अक्षर परब्रह्म योग का वर्णन है औ नवें में ३४ श्लोकों द्वारा राजविद्या राजगुह्य योग का। इन दोनों में ईश्वर का वर्णन औपनिषत् विचारों से मिलता जुलता हुआ है। "पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम" (अनित्य तथा दुःखों का घर) (अ० ८ श्लोक १५ में) कहा गया है।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥ १५ ॥

कोई मेरी उपासना ज्ञानयज्ञ से करते हैं, कोई अपने को मुझसे अभिन्न समझ कर तथा कोई पृथक् समझ कर विश्वमुख को भजते हैं। यहाँ अद्वैत और द्वैतवाद दोनों के मूल समझ पड़ते हैं।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ २३ ॥

जो पुरुष दूसरे देवताओं की भक्ति करके श्रद्धा पूर्वक उपासना करते हैं, वे भी अविधि पूर्वक मेरा ही भजन करते हैं। देवता ईश्वर अंश के होने अथवा ईश्वरीय महत्ता न माने हुए देवताओं का पूजन भी देव पूजन होने से ईश्वर ही को

पहुँचता है। सातवें से नवें अध्याय तक निर्गुण ब्रह्म का कथन उपनिषदों के समान है। दसवें अध्याय में ४२ श्लोकों द्वारा विभूति योग का कथन है और इसी के साथ गीता सगुणवाद पर आ जाती है। ग्यारहवें श्लोक में कहा गया है कि ईश्वर प्रीतिपूर्वक भजन करने वाले भक्तों के अज्ञान का नाश ज्ञान-रूप दीपक से करता है। इसके कुछ आगे विभूतियों का वर्णन है। यहाँ यह भी कहा गया है कि, "प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे" (१६) मुझ फैले हुए का अन्त है ही नहीं। मैं यज्ञों में जप यज्ञ (२५) मनुष्यों में राजा (२७) श्रोतों में गगा, (३१), और पांडवों में अर्जुन हूँ (३७)। अन्त में कहा है.—

> यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्री मदूर्जितमेव वा।
> तत्तदेवा वगच्छत्वं मम तेजोऽशसम्भवम्॥

जो विभूतिमान या श्रीमान हो उसको तुम मेरी शक्ति से उत्पन्न जानो। बयालीसवें श्लोक में कहा गया है कि, इस सारे संसार को ईश्वर एक अंश मात्र से धारण करके स्थित है।

ग्यारहवें अध्याय में ५५ श्लोकों द्वारा विश्वरूप दर्शन का वर्णन है। यों तो गीता में काव्य कौशल का प्रदर्शन बहुत स्थानों पर है, तथापि इस अध्याय में सर्वोत्कृष्ट साहित्यिक छटा परिलक्षित होती है। अब यह प्रश्न उठता है कि यह विश्वरूप क्या है तथा उसके द्वारा ईश्वरता में कौन भाव प्रधानतया जोड़ा गया है। यह ध्यान रखना चाहिए कि, महादेव रुद्रों में

हैं तथा विष्णु आदित्यों में और इस रूप में आदित्य और रुद्र दोनों देखे गये हैं (६,२२) तथा ब्रह्मा (१५) भी। फिर भी यह वैष्णव रूप ही जान पड़ता है। दो बार (२४,३०) यह रूप विष्णु कह कर सम्बोधित किया गया है। हृषीकेश(३६), आदिदेव और पुराण पुरुष भी (३८) कहा गया है। श्रीकृष्ण के किरीटी, गदी, चक्रहस्त और चतुर्भुज रूप (४६) से इसका एकत्व दर्शाया गया है। अतएव इतना प्रकट है कि, श्रीकृष्ण का ही यह विश्वरूप था। उन्हीं ने इसे दिखलाया भी था। इसी के आधार पर श्रीकृष्ण विष्णु कहलाते हैं, अन्यथा गीता में वे प्रायः सभी कहीं ईश्वर कहे गये हैं, न कि विष्णु। यदि विश्वरूप को वैष्णव रूप न मानें, तो गीता से श्रीकृष्ण की वैष्णवता सिद्ध न होगी। भगवान का पितृ भाव (४३) कथित है। "पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्" (४४)। यहाँ कहा गया है कि, भगवान् भक्त के अपराध वैसे ही सहन करें जैसे पिता पुत्र के, मित्र मित्र के, तथा पति स्त्री के करता है।

बारहवें अध्याय के २० श्लोकों में भक्ति का विवरण दिया गया है। यहाँ सगुण ब्रह्म की प्राप्ति सुगम होने से श्रेष्ठ समझी गई तथा निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति में विशेष क्लेश कहा गया है।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥ १२ ॥

अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञान से ध्यान विशेष है, ध्यान से कर्म फलों का त्याग श्रेष्ठ है और त्याग से शान्ति प्राप्त होती है।

तेरहवें अध्याय में ३४ श्लोकों द्वारा क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विभाग

का कथन है। क्षेत्र मनुष्य शरीर को कहते हैं और क्षेत्रज्ञ परमात्मा को (श्लोक २)। चौथे श्लोक में ब्रह्म सूत्र (पदों) का नाम आया है, यद्यपि उसका अर्थ और भी सम्भव है । क्षेत्र और ज्ञान का साधारण कथन ५-७ श्लोक में है।

सर्वत: पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १३ ॥

उसके हाथ पैर सब जगह हैं, सब कहीं उसके शिर, मुख आँख हैं. सब जगह उसके कान हैं, वह सब (चैतन्य तथा अचैतन्य) पदार्थों में व्याप्त होकर स्थित है। वह सब प्राणियों से अभिन्न होकर भी भिन्न रूप में स्थित है (१६)। प्रकृति और पुरुष (जीवात्मा) ये दोनों अनादि हैं (१६, २०)। कुछ लोग ध्यान द्वारा अपने (जीवात्मा) को अपने ही में देखते हैं, तथा कुछ और लोग सांख्ययोग से या कर्मयोग से देखते हैं (२४)।

चौदहवें अध्याय के २७ श्लोकों में गुणत्रय विभाग का कथन है और पन्द्रहवें (अध्याय) में २० श्लोकों द्वारा पुरुषोत्तम योग का। सनातन जीव ईश्वरांश है (७)। ईश्वर पृथ्वी का दृढ़ करके जड़ चैतन्यों को धारण करता है (१३), वही सब के हृदय में स्थित है और उसी से स्मृति, ज्ञान और तर्क की शक्तियाँ प्राप्त हैं (१५)। सब भूत (जड़, चैतन्य) क्षर कहलाते हैं तथा कूटस्थ (जीवात्मा) अक्षर, अथच परमात्मा पुरुषोत्तम (१६-१८) है। सोलहवें अध्याय में २४ श्लोकों द्वारा दैवासुर संपद्विभाग का कथन है। श्रेष्ठ गुण और कर्म दैवी सम्पत्ति माने गये हैं और बुरे आसुरी। यह भी कहा गया है कि, दुष्कर्मियों को आसुरी योनियों में जन्म लेना पड़ता है (१६)।

नरक का भी कथन है (१६,२१)। सत्रहवें अध्याय में २८ श्लोकों द्वारा श्रद्धात्रय का वर्णन है तथा अट्ठारहवें मे ७८ श्लोकों मे फिर से संन्यास योग का कथन है। काम्य कर्मों के त्याग को सन्यास और सम्पूर्ण कर्मों के फल के छोड़ने को त्याग कहते हैं (२)। कुछ पंडित कहते हैं कि, कर्मों को दोषवत् जान कर त्याग देना चाहिए, किन्तु भगवान् का कथन है कि, यज्ञ, दान और तप वाले कर्म त्याज्य नहीं हैं। इन्हें भी संग और फलाशा को छोड़ कर करना चाहिए (५, ६)। नित्य कर्म का त्याग तो हो नहीं सकता। यदि मोहवश कोई उसे छोड़े, तो वह त्याग तामस होगा (७)। इसके पश्चात् गीता में त्याग, दान आदि अनेक वातों के सात्विक, राजस और तामस रूप कहे गये हैं। अनन्तर भक्ति का वर्णन किया गया है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया ॥ ६१ ॥

भगवान् सब प्राणियों के हृदय में वर्तमान हैं। वह यन्त्र पर चढ़ी हुई पुतलियो के समान सारे जड़ और चैतन्य भूतों को भ्रमाता है। इसके उपरान्त अवशिष्ट के रूप में ग्रन्थ समाप्ति का वर्णन है। इसी स्थान पर गीता समाप्त होती है। कहा गया है:—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतमहत् ॥

सब उपनिषत् गाय हैं जिन्हें दुह कर दूध स्वरूप यह गीता गोपाल नन्दन ने निकाली है। इसमें अर्जुन वत्स के समान है तथा बुद्धिमान् पुरुष भोक्ता (भोग करने वाले) हैं।

चाहे कोई कितने ही कष्ट में हो, तो भी गीता पढ़ने से उसे शाँति मिलती ही है। इसकी उच्चता के आगे सांसारिक पदार्थ हेय समझ पड़ते हैं। दूसरे, पाँचवें, छठे, नवें, दसवें, ग्यारहवें, पन्द्रहवें तथा अट्ठारहवें अध्यायों से उपर्युक्त कथन की विशेष पुष्टि होती है। सूर्यनारायण व्रत में माहात्म्य सम्बन्धिनी जो कथा कही जाती है, उसके स्थान पर गीता के दूसरे, पाँचवें, छठवें, नवें और ग्यारहवें अध्यायों का पाठ हो तो हिन्दू धर्म का उच्च मर्म श्रोताओं पर प्रकट होगा और व्रत से भी फल प्राप्ति होगी ही। गीता हमारा बहुत श्रेष्ठ ग्रन्थ है और उपनिषदों का साथ न छोड़ते हुए यह पहले पहल हमारे धर्म में सगुणवाद और अवतारवाद को जोड़ता है। हमारे धार्मिक ग्रन्थों में ऋग्वेद, अथर्ववेद, शतपथ ब्राह्मण तथा गीता सब से श्रेष्ठ हैं। गीता में कर्म योग की मुख्यता कथित है और यद्यपि सिद्धान्त रूप से ज्ञानयोग उससे बढ़ कर है, तथापि रहना मनुष्य को प्रायः सदा कर्मयोगी ही है। अन्तकाल में भी ज्ञान प्राप्त करने पर वह निर्वाण प्राप्त कर लेता है। गीता की इतनी प्रशंसा करके भी इतना मानना ही पड़ेगा कि अपंडितों द्वारा परमोच्च परब्रह्म वाले भाव से अश्रद्धा के कारण ही गीता ने उससे कुछ नीचा किन्तु लोक संग्रह योग्य ईश्वरीय भाव पहले पहल हमारे धर्म में जोड़ा।

अध्याय ७

सदाचार

इस उपयोगी विषय पर कुछ शास्त्रीय सम्मतियों का उद्धरण करके हम अपने विचार प्रकट करेंगे।

१— (बृहदारण्यकोपनिषत् ६-२०) "कर्म के कारण मनुष्य का पुनर्जन्म होता है, क्योंकि यदि ऐसा न हो तो कृतनाश तथा अकृताभ्यागम (न किये की प्राप्ति) का दोष लगता है। जब पुण्य से अन्त.करण शुद्ध हो जाता है, तब पुनर्जन्म नहीं होता।" यह विचार महर्षि याज्ञवल्क्य का है।

२— (बृहदा० अ० ३) विद्वान् लोग रहस्य प्रिय होने से इन्द्र को छिपाकर इन्ध कहते हैं।

३— छान्दोग्योपनिषत् (तृतीय प्रपाठक, खंड १६, मन्त्र ७) ऐतरेय ऋषि के पुत्र महीदास ब्रह्मचारी ११६ वर्ष जीवित रहे।

४— (बृहदा० छठवां अ०, ब्राह्मण दूसरा, मन्त्र ७-८) आपत्काल में विद्या की इच्छा वाले ब्राह्मणों ने वाणी द्वारा क्षत्रिय तथा वैश्यों की शिष्य वृत्ति की, सेवा द्वारा नहीं। अतएव श्वेतकेतु के पिता गौतम ने पांचाल नरेश राजा प्रवाहण का शिष्यत्व ग्रहण किया। राजा ने कहा " यह विद्या केवल क्षत्रियों में थी, किन्तु अब बतलाता हूँ। "

५— (बृहदा० अध्याय चौथा, ब्राह्मण १) जब तक शिष्य को पूर्ण बोध न हो जाय, तब तक गुरु दक्षिणा न लेवे।

६— [छान्दोग्योपनिषत् प्रथम प्रपाठक, नवां खंड] उषस्ति ऋषि ने क्षुधार्त होकर जूठा उरद खाया, क्योंकि शुद्ध भोजन अप्राप्य था,   किन्तु जूठा जल   न पिया, क्योंकि शुद्ध जल प्राप्य था।

७— [ईशोपनिषत् २] मनुष्य संसार में निश्चय पूर्वक कामों को करता हुआ पूरी आयु (१०० वर्ष) जीना चाहे। इसी प्रकार, इसके सिवा दूसरी प्रकार नहीं, मनुष्य में काम नहीं चिपटता है।

८— [तैत्तिरीयोपनिषत्, प्रथम बल्ली, ग्यारहवें अनुवादक के मूल का अन्वय इस प्रकार है]

आचार्यः अन्तेवासिनम् वेदम् अनूच्य अनुशास्ति।

गुरु शिष्य को वेद पढ़ाकर शिक्षा देता है, हे शिष्य!

त्वं सत्यंवद, धर्मं चर।

तुम सच बोलो, धर्म पर चलो,

स्वाध्यायात् मा प्रमदः।

वेद पाठ से भूल मत करो,

आचार्याय धनं आहृत्य,

गुरू को गुरु दक्षिणा देकर,

प्रजातन्तु मा व्यवच्छेत्सीः।

सन्तानरूपी तागे को मत तोड़ो, अर्थात् गृहस्थ बन कर पुत्रोत्पादन करो,

सत्यात्प्रमदितव्यं न,

सत्य से भूल मत करो,

धर्मात्प्रमदितव्यं न,

धर्म से भूल मत करो,

कुशलात्प्रमदितव्यं न,

शरीर रक्षण में भूल मत करो,

भूत्यै प्रमदितव्यं न,

सम्पत्ति के लिए भूल मत करो।

स्वाध्याय प्रवचनाभ्यां प्रमदितव्यं न,

वेद पढ़ने पढ़ाने से भूल मत करो,

देव पितृ कार्याभ्यां प्रमदितव्यं न,

देवता और पितरों के कामों में भूल मत करो। हे शिष्य,

त्वं मातृदेवः भव,

तुम माता को देवता के समान मानने वाले हो,

पितृ देवः भव, आचार्य देवः भव अतिथिदेवः भव।

पिता, गुरु तथा पाहुनों को देवता के समान मानने वाले हो।

यानि अनवद्यानि कर्माणि तानि त्वया सेवितव्यानि इतराणि नो,

जो जो अनिन्दित कर्म हैं उनका तुम्हें सेवन करना चाहिये, इतरों का नहीं,

च यानि अस्माकम् सुचरितानि,

तानि त्वया उपास्यानि इतराणि त्वया नो,

तथा जो हम लोगों के अच्छे चरित्र हैं, वही तुम्हारे द्वारा दृढ़ता पूर्वक आचरण करने योग्य हैं, और कर्म अर्थात् हमारे श्रेष्ठ से इतर (बुरे) कर्म, तुम्हारे द्वारा करणीय नहीं हैं।

च ये के ब्राह्मणाः अस्मच्छ्रे यांसः

तेषाम् आसनेन त्वयाः प्रश्वसितव्यं।

और जो कोई ब्राह्मण लोग हमसे श्रेष्ठ हैं उनका तुम्हारे द्वारा आसन से समादर योग्य है। यहाँ ब्राह्मण जन्मानुसार न होकर कर्मानुसार समझ पड़ता है,क्योंकि उपर्युक्त सं० ४ में क्षत्रियों और वैश्यों की भी ब्राह्मणों द्वारा शिष्यता कथित होने से उनका समादर आ ही गया।

श्रद्धया देयं, अश्रद्धया देयं,

श्रद्धा हो तो दान योग्य है और अश्रद्धा से भी योग्य है,

श्रिया देयं, ह्रिया देयं, भिया देयं, संविदा देयं

अपने धर्मानुसार दान योग्य है, लज्जा के साथ, भय के साथ तथा मित्र के काम में भी दान योग्य है,

अथ यदि ते कर्म विचिकित्सा, वृत्ति विचिकित्सा स्यात्

और यदि कभी तुमको किसी कर्म अथवा जीविका के विषय में सन्देह हो,

तदा तत्र ये सम्मर्शिनः युक्ताः आयुक्ताः
अलूक्षाः धर्म कामा ब्राह्मणाः स्युः

तब वहाँ जो विचारवान्, लौकिक, शास्त्रोक्त, कर्मयुक्त, न क्रूर बुद्धि वाले धर्मात्मा ब्राह्मण होवें,

ते यथा तत्र वर्तेरन् तत्र त्वमपि तथा वर्त्तेथाः

वे जिस प्रकार वहाँ वर्ताव करें, वहाँ तुम भी उसी प्रकार वर्ताव करो। अथ तत्र (और तब)

अभ्याख्यातेषु ये ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः युक्ताः आयुक्ताः।
धर्मकामाःस्युः ते यथा तेषु वर्त्तेरन् तथा त्वमपि तेषु वर्त्तेथाः॥

श्रति प्रसिद्ध लोगों विषे जो ब्राह्मण लोग विचारवान लौकिक कर्मयुक्त, धर्मरत हों, वे उनमें जैसा वर्ताव करें, उनमें तुम भी वैसा ही वर्ताव करो।

एषः आदेशः एषः उपदेशः एषा वेदोपनिषत्,
एतत् अनुशासनम् एवं उपासितव्यं,

यही आज्ञा है, यही उपदेश है, यही वेद का अर्थ है, यही अनुमति है तथा यही सदैव करणीय है, 'च उ' (और निश्चय करके) 'एवं उपास्यम्'। इस प्रकार आराध्य है। ब्राह्मण पद उस काल बहुत कुछ कर्मज था, इसलिए ज्ञानी के अर्थ में उसकी महिमा है, जाति के रूप में नहीं।

६—तैत्तिरीयोपनिषत् (प्रथम वल्ली, नवम् अनुवाक)—

ऋत (वेद के सूक्ष्मार्थ का विचार, सत्य, स्वाध्याय (वेद पढ़ना), प्रवचन (वेद पढ़ाना), तप, दम, (इन्द्रिय निग्रह), शम (मन निग्रह), अग्नयः (अग्नि धारण करना), अग्निहोत्र, अतिथयः (अभ्यागत पूजन), मानुष (विवाहादि लौकिक व्यवहार), प्रजा (सन्तति) प्रजन (उत्पादन), और प्रजाति (सन्तान ही के निमित्त विवाह करना), इन सब वेद विहित कर्मों का करना यह अनुवाक अवश्य करणीय मानता है।

(१०) [ईशोपनिषत्, १५]

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वम्पूषन्नपावृणु सत्य धर्माय दृष्टये॥

सत्य का मुख सोने के बर्तन से ढका हुआ है । हे उन्नति चाहने वाले ! सत्य धर्म दिखाने के लिये तू उसे खोल ।

११— [मुण्डकोपनिषत् ४६]—

सत्यमेव जयति नानृतम् सत्येन पन्था विततो देवयानः ।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्रतत्सत्यस्य परमं निधानम् ॥

सत्य ही जीतता है न कि मिथ्यात्व,सत्य से देवताओं का मार्ग फैला हुआ है, जिस (मार्ग) से उद्देश्यों की सफलता प्राप्त किये हुए ऋषिगण उत्साह से गमन करते हैं, जहाँ उस (सत्य) की अन्तिम सीमा है।

१२ —(श्रीभगवद्गीता अ० ३, संख्या ४)—

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च सन्यासनादेव सिद्धिं समधि गच्छति ॥

कर्मों के छोड़ने से मनुष्य अकर्मी के (ऊंचे) पद को नहीं पा सकता और न केवल सन्यास (कर्म-त्याग) से सिद्धि भली भाँति आ सकती है।

१३— (श्रीभगवद्गीता अ० ३, संख्या २६)

प्रकृतेर्गुण सम्मूढाः सज्जन्ते गुण कर्मसु ।
तान कृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नवित्न विचालयेत् ॥

प्रकृति के गुणों को न जानते हुए प्राणी कर्मों के गुणों में लिप्त हो जाते हैं। ऐसे पूरा ज्ञान न रखने वाले मूर्खों को ज्ञानी पुरुष (उनके अधूरे विश्वासों से) बहुत न हिलावें। प्रयोजन यह है कि विशेषज्ञ स्वल्पज्ञों को थोड़ा बहुत शिक्षण देवे, किन्तु इतना नहीं कि वे किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो जावें।

१४— (श्रीभगवद्गीता अ० ५, संख्या १८)—

विद्या विनय सम्पन्ने ब्राह्मणे गविहस्तिनि ।
शुनि चैवश्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः ॥

सदसद्विवेकी पुरुष अर्थात् पंडित लोग विद्या विनय युक्त ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता और चांडाल को एक ही दृष्टि से देखते अर्थात् बराबर समझते हैं।

१५— (श्रीभगवद्गीता अ० २, संख्या ६६)—

या निशा सर्व भूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥

जिन वस्तुओं के लिये सारे प्राणी सुप्त हैं, उनके लिये संसार जागरूक है, उनके लिये वास्तविक द्रष्टा मुनि रात के समान सुप्त हैं।

इस प्रकार अनेक शास्त्रीय वचन सदाचार के सम्बन्ध में वेदों, उपनिषदों तथा गीता आदि में मिलते हैं। उनमें आचार पर विशेष बल दिया हुआ है, विश्वासों, तीर्थों, स्नानों देव दर्शनों आदि पर नहीं। इससे प्रकट होता है कि पुराणादि पीछे वाले ग्रन्थों में जो ऐसे विचार कहीं कहीं मिलते हैं वे प्राचीन शास्त्रों से असम्बद्ध हैं। आजकल हमारे यहाँ आचार भोजन,विवाहादि से विशेषतया सम्बद्ध हो गया है। इन विषयों पर अन्यत्र कथन होगा। अभी उपर्युक्त उद्धरणों पर विचार किया जाता है। वर्तमान समय में हम लोगों में ज्ञान और विद्या के मुख्यातिमुख्य सिद्धान्तों के छिपाने की बुरी चाल बहुत चल रही है जिससे यहाँ के उच्च ज्ञान का बहुत कुछ नाश हो गया है। ऊपर के उद्धरण सं० (२) से प्रकट है कि यह बात उपनिषत्काल में भी चलती थी।

बहुत पीछे के ग्रन्थ 'सूर्य सिद्धान्त'में भी भूभगोल नामक एक साधारण समय मापक यन्त्र के विषय तक में लिखा है कि ज्ञाता लोग इसे सब को न बतलावें नहीं तो सब लोग इसे जान लेंगे। ऐसे भद्दे विचारों के कारण भी भारतीय ज्ञान का बहुत कुछ लोप हो गया है।

पुराणों में मनुष्यों की जीवन सीमा की अवस्था दस दस बीस बीस हजार वर्षों तक पहुँच गई है। यदि पुराने विचारों वाले पंडितों से वेद की ऋचा "जीवेम शरदः शतम्" के आधार पर तर्क किया जावे तो भी टूटी फूटी बहस चला कर वे कहने लगते हैं कि यहाँ शत से संख्या का भाव न लिया जाकर पूर्णता का लिया गया है। उपर्युक्त तीसरे उद्धरण से यह तर्क भी कटता है, क्योंकि उसमें भारी अवस्था में ११६ वर्षों का बहुत असाधारण रूप में विवरण दिया गया है। सातवें उद्धरण में पूर्णायु के लिए उचित कार्यों के करने की भी शिक्षा दी गई है। केवल इच्छा करने से पूर्णायु प्राप्त नहीं होती वरन् उसके लिए उचित कार्यों का करना भी आवश्यक है। नवें उद्धरण में कुछ उचित कर्मों की सूची दी जाकर उनके विषय में आज्ञा दी गई है। वे सब कार्य परमोत्तम हैं। बारहवें उद्धरण में केवल संन्यास अर्थात् कर्मों का छोड़ना ठीक न माना जाकर शुभ कर्मों को भी उसमें मिलाना युक्त समझा गया है। संन्यासी उसे कहते हैं जो न तो अपने लिये कुछ चाहे न किसी से कुछ शत्रुता करे। ऐसा पुरुष भी जब तक परोपकारादि न करे तब तक इस वाक्य के अनुसार उचित सिद्धि नहीं पा सकता। तेरहवें उद्धरण में व्यावहारिक शिक्षा का प्रकाश है और चौदहवें में समता सिद्धान्त का बड़ा उत्कर्ष कथन है।

उद्धरण सं० (१) में कृतनाश और अकृताभ्यागम के अकाट्य सिद्धान्त द्वारा महर्षि याज्ञवल्क्य ने जीवात्मा के मनुष्य जन्म से पूर्व तथा मरण से पीछे वाले अस्तित्व को प्रमाणित किया है। उद्धरण सं० (६) में आपद्धर्म का सुचारु कथन है जिससे यह प्रमाणित किया गया है कि ऐसी दशा में कुछ भी करने से मनुष्य धर्मच्युत नहीं होता, किन्तु ऐसी दशा में भी उसे आवश्यक सीमाओं के आगे न जाना चाहिये। जो बात आपद्धर्म वश अनिवार्य दशा में करनी ही पड़े, उसे साधारण अथवा निवार्य दशा में न करना चाहिये। दसवें और ग्यारहवें उद्धरणों में शुद्ध सत्य की प्रशंसा की गई है। पुराणों में कहीं कहीं ऐसा भी लिखा है कि मनुष्य को कई स्थानों पर असत्य का भी आश्रय लेना पड़ जाता है। इन विचारों के आधार पर कुछ अन्य धर्मावलम्बी कहने लगते हैं कि हिन्दू मत में खालिस सत्य का उपदेश नहीं है। एक बार लार्ड कर्जन महोदय तक ने ऐसा ही अशुद्ध मत प्रकट किया था जिस पर सारे देश में बहुतेरी अमर्ष पूर्ण सभायें होकर मन्तव्य पास हुए। इन्हीं कारणों से पुराणों से भी प्राचीनतर औपनिषत् शिक्षाओं से दो उद्धरण यहाँ अमिश्रित सत्य के सम्बन्ध में शास्त्रीय आज्ञाओं के उद्धृत कर दिये गये हैं। इनसे पूरा प्रयोजन सिद्ध है। उद्धारण सं० (४) और (५) गुरुओं के सम्बन्ध में हैं। गुरु दक्षिणा शिक्षा समाप्त होने पर योग्य समझी जाती है। सं० (४) से प्रकट है कि शिक्षा दान ब्राह्मणों का काम था किन्तु यदि कोई विशेष विद्या किसी क्षत्रिय या वैश्य के पास होती थी, तो ब्राह्मण लोग उसका भी शिष्यत्व ग्रहण करने में नहीं हिचकिचाते थे, किन्तु ऐसा शिष्यत्व सेवा द्वारा न होकर केवल वाणी द्वारा रहता

था। ब्राह्मण शिष्यों से सेवा कराना केवल ब्राह्मण गुरुओं का काम था। ब्राह्मणेतर शिष्यों से क्षत्रिय और वैश्य गुरु भी सेवा कराते होंगे।

आठवां उद्धरण इतिहास की दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण है। उसमें सर्वोत्कृष्ट सदाचार शिक्षा मिलती है। दो दो वार सत्य, धर्म (कर्तव्य), और स्वाध्याय की आज्ञायें हैं तथा एक एक वार प्रवचन, सन्तानोत्पादन, कुशल (शरीर रक्षा), सम्पत्ति तथा देवपितृ कार्य में अप्रमाद की। मातृदेव, पितृदेव आचार्यदेव तथा अतिथिदेव होने की आज्ञा इसी क्रम से है। अनिन्दित कार्य करने तथा निन्दित से बचने का अनुशासन है। बड़ो के श्रेष्ठ मात्र चरित्रों का मानना योग्य है, औरों का नहीं। यहाँ आँख मूँद कर अनुगमन शास्त्र के प्रतिकूल होने से पाप माना गया है। श्रेष्ठता और अश्रेष्ठता का निर्णय शिष्य की ही बुद्धि पर छोड़ा गया है। श्रेष्ठ ब्राह्मणों के पूजन का आदेश है और दान (श्रद्धया, अश्रद्धया, श्रिया, ह्रिया, संविदा) सब प्रकार से करणीय है। उस सम्बन्ध में जितने कुछ कठिन शब्द आये हैं उनके अर्थ ऊपर कहे जा चुके हैं। जहाँ कर्म अथवा वृत्ति में सन्देह उपस्थित हो, वहाँ प्रख्यात सम्मर्शी, युक्त, आयुक्त, अलूक्ष धर्मकामा ब्राह्मणों के आचरणों पर चलना लिखा है, उपदेश पर नहीं। उपदेशों के छोड़ने का शायद यह अभिप्राय हो कि यदि उन्हीं से सन्तोष हो जायगा तो सन्देह शेष रहेगा ही नहीं। जब उपदेश सुनकर भी सन्देह शेष रहे, तब पूर्ण निश्चय न होने पर भी भद्र पुरुषों के आचरण अनुगमनीय कहे गये हैं। यहाँ पर भी सदाचार के बहुत उच्च भाव शास्त्रकार ने कहे हैं। इस उद्धरण के ध्यान पूर्वक पढ़ने से

सदाचार-सम्बन्धी प्रायः सभी शिक्षायें मिल जाती हैं। शरणागत-वत्सलता, देव-सेवा आदि प्रकट में तो अकथित हैं, किन्तु दान के अन्दर आ जाती हैं। पतनोन्मुख दशा में हमारे समाज ने शास्त्रों, श्रेष्ठों आदि की आज्ञाओं पर जो आँख बन्द करके चलने का हठ किया है, उन बातों की इस प्राचीन शास्त्राज्ञा में छाया तक नहीं है और विचारशील होने की आज्ञा है। पूर्ण स्वनिश्चय के अभाव में आज्ञायें तभी मान्य कही गई हैं जब पूर्ण विचारानन्तर भी दृढ़ निश्चय का अभाव ही रहे। अन्तिम उद्धरण सं० (१५) में संयमी के आचरणों और विचारों का साहित्यिक तथा श्रेष्ठ वर्णन है।

अध्याय ६

वेदान्त

दर्शन-शास्त्र वेदान्त का कथन करता है। वेदान्त क्या है यह आगे कहा जायगा। भारतीय दर्शनशास्त्र का कुछ भी ज्ञान रखने के लिए ज्योतिषशास्त्र के वर्तमान आविष्कारों के अनुसार विश्व को भी थोड़ा बहुत जान लेना ठीक समझ पड़ता है। पृथ्वी का व्यास ८००० मील है। यह कुछ-कुछ अण्ड गोलाकार है तथा उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव के पास कुछ (प्रायः २७ मील) दबी हुई भी है। इन दोनो ध्रुवों के बीच की कल्पित रेखा को अक्ष या भ्रमणाक्ष कहते हैं। भूमि इसी पर लट्टू की भाँति नाचा करती है तथा आगे भी बढ़ती जाती है। इन्हीं दोनों चालों से दिन रात अथच ऋतु परिवर्तन होते हैं। आगे चलने में पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करती है। इस परिक्रमा के मार्ग का नाम क्रांतिवृत्त है, जो अण्डाकार होता है। पृथ्वी की परिक्रमा करने में चन्द्रमा को प्रायः ३५५ दिन लगते हैं। सूर्य की परिक्रमा पृथ्वी एक साल में करती है। पृथ्वी और चन्द्र दोनों पश्चिम से पूर्व की ओर चलते हैं। समुद्र में ज्वारभाटा चन्द्राकर्षण के बल पर आता है। वह पृथ्वी से २,३८,००० मील की दूरी पर है। चन्द्र में कभी जीव जन्तु थे, किन्तु अब यह वायुशून्य एक मृत जगत् है। वहाँ पन्द्रह पन्द्रह दिनों के दिन रात होते हैं। दिनों में यहाँ बड़े कड़ाके की गर्मी और रात में बड़ी करारी ठंडक होती है। सूर्य का व्यास

पृथ्वी से १०८ गुना है किन्तु तोल में वह पृथ्वी से केवल ३,२०,००० गुना है। वह समय के साथ सिकुड़ रहा है। सौर-परिवार में दस ग्रह हैं अर्थात् बुध शुक्र, पृथ्वी, मंगल अवान्तर ग्रह, गुरू, शनि, यूरेनस, नेप्चून और प्लूटो। इसी क्रम से इन ग्रहों के एक एक साल (अर्थात् सूर्य के इनके द्वारा चक्कर) हमारे ८८, २२५, ३६५, ६८७, २२००, ४३३२, १०७५६, ३०६८७, ६०१२७ तथा ६१३१२ दिनों के होते हैं। प्लूटो का एक वर्ष हमारे ३० वर्षों का है। प्राचीन ज्योतिषी अन्तिम तीनों ग्रहों को नहीं जानते थे तथा अवान्तर ग्रहों का जानना भी सन् १८०१ में प्रारम्भ हुआ। मंगल में मनुष्य-लोक के समान लोग होंगे तथा शुक्र में शायद वृक्षों के ही समान वस्तुएँ। शनि के उपग्रह टाइटन में प्राणियों का होना सम्भव है। शेष सारे ग्रह तथा उपग्रहादि जड़जगत् हैं। इनमें कोई वृद्ध है, कोई युवा, किन्तु बृहस्पति अभी बालक है। यूरेनस पहले पहल सन् १८७१ में देखा गया, नेप्चून सूर्य से २ अरब ७८ करोड़ मील दूर है। कई केतु इससे भी दूर जाते हैं। हमारा कहने सुनने भर का कुछ पुष्ट ज्ञान उपर्युक्त सौर परिवार मात्र का है। इनमें केवल सूर्य एक तारा है, शेष सब ग्रह, उपग्रह, केतु, उल्का अग्नि कन्दुक आदि हैं।

आकाश में लाखों करोड़ों तारे हैं जिनमें कई सूर्य से बहुत बड़े हैं। स्वाति तारा सूर्य से साढ़े तीन लाख गुना है तथा कैपेला ४००० गुना। सैकड़ों तारों के अपने अपने सौर परिवार हैं जिन सबको लिए हुए वे प्रति सैकिण्ड सैकड़ों मीलों तक की गति से न जाने किधर जारहे हैं। सम्भवतः वे भी किसी का परिक्रमण करते हैं। कोई सूर्य बालक है, कोई युवा, कोई वृद्ध, कोई मृत और कोई गर्भस्थित तथा कोई आगे गर्भ में आवेंगे।

आकाश गंगा तथा सैकड़ों नीहारिकाओं में नित्य नए तारों के बनने का क्रम चलता रहता है। तारों की अवस्था उनकी ज्योति के रंगों से परखी जाती है। हमारे सूर्य प्रायः ४० वर्ष वाले मनुष्य के समान अवस्था में हैं। इनकी अवस्था का एक-एक सैकिण्ड हमारे हजारों लाखों वर्षों का होता है। मृत सूर्यों में भी बहुतेरे अभी खण्ड-खण्ड नहीं हुए हैं वरन् अपनी ज्योति और गर्मी खोकर अपने मृत ग्रहों आदि के साथ पुराने मार्ग पर चले जा रहे हैं। इस प्रकार विश्व में कोटिकोटि ब्रह्माण्ड प्रस्तुत हैं जिनकी पूरी गणना जानने का हमारे पास कोई साधन नहीं है। यह सारा कारबार गुरुत्वाकर्षण आदि के बल पर चल रहा है। ज्योति एक सैकिण्ड में १,८६००० मील चलती है। ऐसे भी तारे हैं जिनकी ज्योति हमारी पृथ्वी पर लाखों वर्षों में पहुँचती है। यदि वे आज नष्ट हो जाँय तो भी लाखों वर्षों तक हमें जैसे के तैसे चमकते हुए दीखेंगे। इन तारों के ग्रह, उपग्रहादि में कौन या कितने मृत या जीवित जगत् हैं, यह बताना असंभव है।

कारणार्णव में पहले छोटे-छोटे असंख्य कण होंगे जो गुरुत्वाकर्षणादि शक्तियों के कारण आपस में टकरा टकरा कर छोटे बड़े गोले बनाते रहे। ये गोले भी टकरा-टकरा कर एक दूसरे में मिलते रहे होंगे। समय के साथ ऐसे गोले तैयार हो गए जिनके मार्ग मुख्य गोलों से पृथक् होने से उनमें यह टकराने का क्रम समाप्त हुआ। नियम यह है कि यदि कोई छोटा गोला किसी बहुत बड़े के प्रभाव क्षेत्र में आ जाता है तो उससे मिलने के पूर्व पहले ही से खण्ड-खण्ड हो चुकता है। समझा जाता है कि हमारा सूर्य पहले केवल अकेला होगा जिस दशा में वह किसी

भारी तारे के प्रभाव क्षेत्र में कुछ काल के लिए आ गया किन्तु खण्ड-खण्ड होकर और उसमें मिलकर समाप्त होने के स्थान में फिर बाहर निकल गया। इस बीच में उसकी आकर्षण शक्ति के कारण उसकी ओर सूर्य का वृत्त कुछ लम्बा हो गया तथा कीली (अक्ष) पर घूमने के कारण कई खण्ड उससे निकल निकलकर बाहर चक्कर लगाने लगे। यह दश ग्रह हो गए। ग्रहों के रूप पूरे गोल न होकर पहले कुछ बेडौल से थे सो अपनी अपनी धुरी पर घूमने के कारण उनसे भी कुछ भाग निकल कर उपग्रहादि होगए तथा अपने अपने ग्रह के चक्कर लगाने लगे। हमारा चन्द्रमा इसी प्रकार बना हुआ समझा जाता है। यहाँ तक सोचा जाता है कि जहाँ अब प्रशान्त म.सागर है वहीं से भू-भाग निकलकर चन्द्र बन गया होगा। बृहस्पति के ६.चन्द्र है, जिनमें चार मुख्य हैं। बृहस्पति को मिलाकर पाँचों मुख्य गोले एक ही सीधी रेखा के रूप में हैं। शनि के भी कई उपग्रहादि हैं। ऐसा ज्ञात हुआ है कि हमारा सूर्य डेल्टा लायरी नामक तारे की ओर अब भी जा रहा है। सूर्य प्रति सेकिण्ड ११ मील चलता है।

तारे अधिकतर गजमार्ग (आकाश गंगा) में या इसके निकट देख पड़ते हैं। आकाशस्थ जो अंश इससे जितने ही दूर हैं उसमें उतने ही कम तारे हैं। तारों की संख्या ५० या ६० करोड़ से कम न होगी, ऐसा कूना गया है। जितना आकाश हमें दीखता है, सम्भवतः उसके बाहर भी तारा-समूह-पूर्ण दूसरा आकाश हो। इस प्रकार के कई लोकों पर ज्योतिषियों का उचित विश्वास है। सारे विश्व की सृष्टि या प्रलय का कथन असंगत है क्योंकि उत्पत्ति और नाश विश्व के अंश-मात्र का होता है। आदि में केवल आकाश होगा जिसका कुछ अंश ५।५१

स्थान की अनन्तता भी चित्त को चक्कर में डालती है। आकाश में स्थान कहाँ तक फैलता चला गया है सो ध्यान में नहीं आता। ईस्टिन महोदय का एक सिद्धान्त निकला है जिसके अनुसार स्थान सान्त होकर किन्हीं (वृत्तों) चक्करों से भी चलता है, सीधा नहीं। उधर इन वृत्तों के आगे भी किसी न किसी रूप में स्थान होगा ही। समय की भी अनन्तता होती ही है जो समझ में नहीं आती। कहा जाता है कि बिना पृथ्वी के अपनी कीली (अक्ष) पर घूमने के हमें समय का बोध जब हो ही नहीं सकता था, तब जहाँ पृथ्वी सूर्यादि का पता नहीं है, वहाँ समय भी नहीं है। इस तर्क पर भी विश्वास नहीं होता है। समय की हमारी नाप पृथ्वी की चाल से भले ही हो, किन्तु बिना नाप के भी समय है ही, क्योंकि कुछ स्थानों में जब पृथ्वी की चाल से हम समय नापते हैं तब बिना चाल वाले इतर स्थानों में भी तो वही समय बीतता है। सृष्टि के उपर्युक्त क्रमों पर ध्यान देने से ईश्वरीय प्रति दिन में संसारोत्पत्ति तथा प्रति रात्रि में उसके विनाश की कल्पना असंगत दीखने लगती है। विश्व में उपर्युक्त सभी पदार्थ सम्मिलित होने से उसकी ससीमता की कल्पना भी जँचती नहीं। आकाश जगत का अंग है ही और वह अनन्त भी है। ऐसी दशा में ईश्वर उसके अन्दर तो हो सकता है किन्तु वहिश्च (बाहर भी) कैसे है यह सहज बुद्धिगम्य नहीं, क्योंकि विश्व जब असीम है तब उसके बाहर क्या हो सकता है? इन्हीं सब बातों का कथन वेदान्त में आने से ज्योतिष के अनुसार पहले जगत का कथन कर दिया गया है जिससे स्थान स्थान पर उसके समझने में भ्रम पड़ने का खटका न रहे। अब वेदान्त का विषय उठाया जाता है।

वेदान्त—हमारे यहाँ के धार्मिक विचारों में चारों संहिता, सारे ब्राह्मण, उपनिषद् और आरण्यक ग्रन्थ अनादि और अपौरुषेय हैं तथा सबकी संज्ञा वेद है। यहाँपर हम विश्वासात्मक भावों पर न जाकर तर्कात्मक विचारों के आधार पर कथन करेंगे तथा संहिता को वेद कहकर इतर ग्रन्थों को उन्हीं के नामों से पुकारेंगे। मुख्यतया उपनिषद् के आधार पर ही वेदान्त है, तथा ब्रह्मसूत्र (वेदान्त दर्शन) वेदान्त के उपकारी मात्र हैं और केवल गौणरूप से वेदान्त कहे जा सकते हैं। ब्रह्म, जीव और जड़ को तत्वत्रय कहते हैं। महर्षि पतञ्जलि के अनुसार वेद की शाब्दी भावना नित्य नहीं वरन अर्थी भावना (प्रज्ञा) मात्र नित्य है। भागवत पुराण में ब्रह्मा आदि कवि कहे गए हैं। उपनिषत्कार हमारे ऋषिगण बुद्धि (Intellect) से तो विशेष काम लेते ही थे, किन्तु प्रायः बोधि (Intuition) का भी प्रयोग अपने निर्णयों पर पहुँचने को करते थे। यहाँ तक माना गया है कि ऋषियों की प्रधानता बोधि में है तथा टीकाकारों की बुद्धि में। फिर भी दर्शन के निष्कर्ष बुद्धि द्वारा ही ग्राह्य हो सकते हैं न कि बोधि द्वारा। बोधि का मान धार्मिक हो सकता है, दार्शनिक नहीं। हमारे यहाँ दर्शन थोड़ा बहुत धर्म से मिला रहा है तथा पीछे वाले दार्शनिक अपने पूर्ववर्तियों का मान आवश्यकता से इतना अधिक करते रहे कि उन्होंने अपने नवीन विचारों तथा आविष्कारों का कथन नवीनता के रूप में न करके प्राचीन शब्दों के ही नवीन अर्थ लगाकर अपने को नवदार्शनिक न कहकर प्राचीनों का टीकाकार मात्र कहा। ऐसी दशा में जो नवभाव प्राचीन शब्दों में किसी भाँति न लाए जा सके होंगे उनके कथन ही न किए गये होंगे। इस प्रकार पूर्ववर्ती दार्शनिक ऋषिगण, परवर्त्तियों के लिए न केवल पुराने दार्शनिक वरन्

धार्मिक गुरु भी माने गए और दर्शनों का धार्मिक भाव क्षीण होने के स्थान पर दिनों-दिन वृद्धिगत होता गया। फल यह हुआ कि यद्यपि श्री स्वामी शङ्कराचार्य औपनिषद्-आर्ष मण्डल से मानस महत्ता में कम न थे, वरन कुछ वढ़े चढ़े ही थे, जैसा कि पाश्चात्य विद्वान समझते भी हैं, तथापि स्वयं उन्होंने अपने को उनका टीकाकार मात्र माना तथा भारतीय विद्वन्मण्डली में यही भाव मान्य समझा जाता रहा। इसी भाँति यद्यपि जनता में निर्गुण भावों की अग्राह्यता के कारण स्वयं बादरायण व्यास ने सगुण ब्रह्म का भी निर्गुण के साथ कथन किया, तथापि इन दोनों में कोई वैपरीत्य न मानकर परमात्मा का चिन्तवन इन दोनों भावों से ठीक माना, यद्यपि निर्गुण ब्रह्म का जैसा कथन प्राचीन ऋषियों ने किया था, उसके अनुसार परवर्ती सगुण कथन के कई अंशों में उससे प्रतिकूलता थी। फिर भी हमारे आचार्यों ने इस प्रतिकूलता को बिलकुल भुलाकर इन दोनों भावों में अनुकूलता का ही दिग्दर्शन कराया। उन्होंने गीता तक में यही कहा कि निर्गुण भाव बहुत कठिनता से निदिध्यासन में आ सकता है, अतः सगुण विचार शीघ्र फलप्रद होने से एक प्रकार से श्रेष्ठतर है, यद्यपि सत्य दोनों हैं। ऐसी नम्रता कथन में शोभाप्रद होकर भी है वास्तव में असत्य और जब लोक में शालीनता मात्र न समझी जाकर वह तथ्य भाषण के रूप में ग्राह्य हो जाते है, तब दर्शनशास्त्र में न्यूनाधिक अतथ्यता आकर उसकी उन्नति को अवरुद्ध कर ही देती है।

हमारे उपनिषदों में सारे संसार का प्राचीनतम दर्शन-शास्त्र निहित है और जितनी उन्नति उस प्रागैतिहासिक समय तक हमारे ऋषियों ने करली थी, उसे देखकर महदाश्चर्य होता

है । फिर भी कोई भी रचयिता कैसा भी मनीषी होने पर भी सब समयों के लिए समष्टिरूप से सारे संसार के सभी विद्वानों से श्रेष्ठतर नहीं हो सकता । संसार में नवीन आविष्कार होते ही रहते है, जिनके सहारे सभी शास्त्रीय विभागों में नव विचारोत्पादन होता रहता है जिससे नवीन भाव उठते जाते हैं। सन् १८६७ ई० मे पाश्चात्य दर्शन-शास्त्र की जो स्थिति थी, उसकी महत्ता केवल पचास वर्षों वाली उन्नति के देखते हुए बहुत कुछ कम होगई है तथा उनके दार्शनिक विचार इतने ही समय में बहुत आगे बढ़ गये है । यहाँ अपने दर्शन-शास्त्र ने धर्म के रूप मे गोस्वामी तुलसीदास, चैतन्य महाप्रभु तथा वल्लभाचार्य के समयो तक तो कुछ परिवर्तन दिखलाये, किन्तु उसके पीछे कोई कथनयोग्य उन्नति नहीं हुई, वरन् उस काल की उन्नति भी,दार्शनिक विचारो से एक प्रकार की अवनति ही कही जा सकती है। इधर आकर उन्नीसवीं शताब्दी के प्रायः मध्य से कुछ नव विचार धर्म एव दर्शन के क्षेत्र मे आरम्भ हुए हैं जो अब भी चल रहे है,तथा पाश्चात्य दार्शनिक विचारों का भी प्रभाव पड़कर भारत में सभी विभागों में विचार स्वातंत्र्य की वृद्धि कर रहे हैं। अपने वेदान्त में विशेषतया निर्गुण-सगुण ब्रह्म, जीवात्मा, परमात्मा जगदुत्पत्ति, भ्रमवाद आदि के कथन रहते हैं। यहाँ इन्हीं निगूढ़ विषयों में से एक एक को लेकर हम पहले उन पर शास्त्रीय विचार प्रकट करेंगे।

वेदान्त ग्रन्थों का कथन—वेदान्त का विषय उठाने के पूर्व अपने प्राचीन ग्रन्थों का कुछ कथन आवश्यक है क्योंकि उनके अवतरण इस लेख में बहुतायत से आएँगे। अपने यहाँ प्राचीनतम सभ्यता हड़प्पा (३३ वीं शताब्दी ई० पू० अर्थात्

तथा मोहंजोदड़ों (२८ वीं शताब्दी ई० पू०) की है। यह समय पाश्चात्य पंडितों तथा ऐतिहासिक रीति पर चलने वाले भारतीय पंडितों के मतानुसार है जिनसे प्राचीन धार्मिक विचाराश्रयी महाशयों का मतैक्य नहीं है। हड़प्पा और मोहंजोदड़ों मे लेख मिले हैं किन्तु अभी ये दृढ़तापूर्वक पढ़े नहीं गए हैं। वहाँ इतर धार्मिक मामलों के अतिरिक्त योग वा भी विचार प्रस्तुत है। हमारे ऋग्वेद का समय २१ वीं से दसवीं शताब्दी ई० पू० तक का बैठता है। अथर्ववेद शायद इससे कुछ पहले से चलकर प्रायः आठवीं शताब्दी ई० पू० में समाप्त हुआ होगा। सामवेद प्राय. ऋक् का संकलन है तथा यजुर्वेद का समय ऋक् से पीछे से चलकर बहुधा आठवीं शताब्दी ई० पू० तक चलता है। ऋग्वेद में परमात्मा का कथन है किन्तु पुरुषसूक्त से इतर ईश्वर का नहीं इस सूक्त में भी वर्णन अलंकारिक मात्र है। यजुर्वेद तथा अथर्व में शिव परमात्मा हैं।

अनन्तर ब्राह्मणकाल चलता है। ये ग्रन्थ अब ७० हैं यद्यपि पहले कुछ अधिक थे। प्रत्येक ब्राह्मण का अन्तिम अध्याय एक एक उपनिषद् है जिसमें ज्ञानकाण्ड है तथा शेष ब्राह्मणों में कर्मकाण्ड उपनिषद् है। जिनमें ज्ञानकाण्ड है। तथा शेष ब्राह्मणों में कर्मकाण्ड उपनिषत् ११६४ हैं। जिनमें से १५० अच्छे हैं। उनमें भी दश की मुख्यता है। आरण्यक बारह तेरह हैं जिनके विषय ब्राह्मण और उपनिषत् दोनों से मिलते हैं। इसके पीछे सूत्रों का विषय चलता है जिनसे स्मृतियों का जन्म हुआ। वैदिक समय से ही ऐतिहासिक सामिग्री भी स्मरण शक्ति द्वारा रचित की गई, जिससे पहले चार संहितायें बनीं, तब प्राकृत पुराण और अन्त में वर्तमान सांस्कृत पुराण। षड्दर्शन में सांख्य,

वैशेपिक, न्याय, पूर्वमीमांसा, उत्तर मीमांसा और योग के विषय हैं। इन सब में वेदान्त का समर्थन विशेषतया बादरायण व्यासकृत उत्तरमीमांसा से होता है। ब्राह्मणों में पञ्चविंश और तैत्तिरीय सब से पुराने हैं। इनके पीछे जैमिनीय, कौशीतकि और के... गणना है। शतपथ नया है। ये सब बुद्ध से पूर्व के और शतपथ मुख्य ब्राह्मण हैं। उपनिषदों में ... तैत्तिरीय और कौशीतकि सबसे पुराने हैं। मुण्डक, और केन के प्राचीन भागों की गणना है कक्षा में कठ, ईश, श्वेताश्वतर और ... हैं। तीसरी कक्षा में मैत्रायणीय और ... में अथर्ववेदीय उपनिषद् गए। बृहदा... नीय, केन और कठ के अतिरिक्त कोई ... नहीं समझा जाता। श्वेताश्वतर गीता से समय तक शैव ईश्वरत्व चलता था। अब

ऐसा सुना जाता है कि ऋषियों ने ब्रह्म का विवरण मौन से ही किया है।

(४) न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाक् गच्छति न मनो।
न विद्मो न विजानीयो यथैतदनु शिष्यात् ॥ केन ३ ।

वहाँ (ब्रह्म में) आँख नहीं जाती न वाणी जाती है न मन, न बुद्धि। नहीं जानते उसका उपदेश कैसे किया जाय।

(५) सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान् इति। छन्दोग्य ॥३।१४।१॥
यह सब निश्चयपूर्वक ब्रह्म है। तज्जलान्=तज्ज (उससे उत्पन्न), तल्ल (उसमें लय) तदन (उसमें स्थित); ऐसा है।

(६) यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति ॥ तैत्तिरीय ३।१।
जिससे सभी जड़ चेतन उत्पन्न होते हैं, जिसके द्वारा उत्पन्न भूत (जड़ चेतन) जीते हैं. अन्त समय में जिसमें लीन होते हैं।

वैशेषिक, न्याय, पूर्वमीमाँसा, उत्तर मीमाँसा और योग के विषय हैं। इन सब में वेदान्त का समर्थन विशेषतया बादरायण व्यासकृत उत्तरमीमांसा से होता है। ब्राह्मणों में पञ्चविंश और तैत्तिरीय सब से पुराने हैं। इनके पीछे जैमिनीय, कौशीतकि और ऐतरेय की गणना है। शतपथ नया है। ये सब बुद्ध से पूर्व के हैं। ऐतरेय और शतपथ मुख्य ब्राह्मण हैं। उपनिषदों में बृहदारण्यक, छन्दोग्य, तैत्तिरीय और कौशीतकि सबसे पुराने हैं। दूसरी में प्रश्न, मुण्डक, और केन के प्राचीन भागों की गणना है और तब इसी कक्षा में कठ, ईश, श्वेताश्वतर और महानारायणीय आती हैं। तीसरी कक्षा में मैत्रायणीय और माण्डूक्य हैं तथा चौथी में अथर्ववेदीय उपनिषत् गए। बृहदारण्यक, छान्दोग्य, जैमिनीय, केन और कठ के अतिरिक्त कोई उपनिषत् बुद्ध से पुराना नहीं समझा जाता। श्वेताश्वतर गीता से पहिले का है। उसके समय तक शैव ईश्वरत्व चलता था। अब वेदान्त को लीजिए।

ब्रह्म का निर्गुण कथन—(१) यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्यमनसा सह। तैत्तिरीय ॥२।४।१।

जहाँ मन से उसे न पाकर वाणी पलट आती है, अर्थात् परब्रह्म न मन से पाया जा सकता है न वाणी से कहा जा सकता है।

(२) नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा ॥कठ० ३,१२।
ब्रह्म वाणी, मन अथवा आँख से नहीं जाना जा सकता। अवचन द्वारा ही उसका निर्देश है।

(३) अवचनेनैव ब्रह्मप्रोवाच इति श्रूयते ॥ ब्रह्मसूत्र, शंकरभाष्य ३।२।१७।

ऐसा सुना जाता है कि ऋषियों ने ब्रह्म का विवरण मौन से ही किया है।

(४) न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाक् गच्छति न मनो ।
न विद्मो न विजानीयो यथैतदनु शिष्यात् ॥ केन ३ ।

वहाँ (ब्रह्म में) आँख नहीं जाती न वाणी जाती है न मन, न बुद्धि। नहीं जानते उसका उपदेश कैसे किया जाय ।

(५) सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान् इति । छन्दोग्य ॥३।२।१।

यह सब निश्चयपूर्वक ब्रह्म है । तज्जल=तज्ज (उससे उत्पन्न), तल्ल (उसमें लय) तदन (उसमें स्थित); ऐसा है।

(६) यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति ॥ तैत्तिरीय ३।१।

जिससे सभी जड़ चेतन उत्पन्न होते हैं, जिसके द्वारा उत्पन्न भूत (जड़ चेतन) जीते हैं, अन्त समय में जिसमें लीन हो जाते हैं।

(७) अपाणिपादो जवनो गृहीता पश्यत्यचक्षुः सशृणोत्यकर्णः।
सवेत्ति वेद्यं नच तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥ श्वेताश्वतर ॥३।१९।

वह बिना हाथ के पकड़ता, बिना पैर के चलता, बिना आँख के देखता, बिना कान के सुनता, और सब ज्ञातव्यों को जानता है, किन्तु उसका जाननेवाला (कोई) नहीं है । उसी को महान् पुरुष कहते हैं।

वैशेषिक, न्याय, पूर्वमीमाँसा, उत्तर मीमाँसा और योग के विषय हैं। इन सब में वेदान्त का समर्थन विशेषतया बादरायण व्यासकृत उत्तरमीमांसा से होता है। ब्राह्मणों में पञ्चविंश और तैत्तिरीय सब से पुराने हैं। इनके पीछे जैमिनीय, कौशीतकि और ऐतरेय की गणना है। शतपथ नया है। ये सब बुद्ध से पूर्व के हैं। ऐतरेय और शतपथ मुख्य ब्राह्मण हैं। उपनिषदों में बृहदारण्यक, छन्दोग्य, तैत्तिरीय और कौशीतकि सबसे पुराने हैं। दूसरी में प्रश्न, मुण्डक, और केन के प्राचीन भागों की गणना है और तब इसी कक्षा में कठ, ईश, श्वेताश्वतर और महानारायणीय आती हैं। तीसरी कक्षा में मैत्रायणीय और माण्डूक्य हैं तथा चौथी में अथर्ववेदीय उपनिषत् गए। बृहदारण्यक, छान्दोग्य, जैमि, नीय, केन और कठ के अतिरिक्त कोई उपनिषत् बुद्ध से पुराना नहीं समझा जाता। श्वेताश्वतर गीता से पहिले का है। उसके समय तक शैव ईश्वरत्व चलता था। अब वेदान्त को लीजिए।

ब्रह्म का निर्गुण कथन—(१) यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्यमनसा सह। तैत्तिरीय ॥२।४।१।

जहाँ मन से उसे न पाकर वाणी पलट आती है, अर्थात् परब्रह्म न मन से पाया जा सकता है न वाणी से कहा जा सकता है।

(२) नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा ॥कठ० ३,१२।
ब्रह्म वाणी, मन अथवा आँख से नहीं जाना जा सकता। अवचन द्वारा ही उसका निर्देश है।

(३) अवचनेनैव ब्रह्मप्रोवाच इति श्रूयते ॥ ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य ३।२।१७।

ऐसा सुना जाता है कि ऋषियों ने ब्रह्म का विवरण मौन से ही किया है।

(४) न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाक् गच्छति न मनो।
न विद्मो न विजानीयो यथैतदनु शिष्यात् ॥ केन ३।

वहाँ (ब्रह्म में) आँख नहीं जाती न वाणी जाती है न मन, न बुद्धि। नहीं जानते उसका उपदेश कैसे किया जाय।

(५) सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान् इति। छन्दोग्य ॥३।१४।१।
यह सब निश्चयपूर्वक ब्रह्म है। तज्जल=तज्ज (उससे उत्पन्न), तल्ल (उसमें लय) तदन (उसमें स्थित); ऐसा है!

(६) यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसं विशन्ति ॥ तैत्तिरीय ३।१।
जिससे सभी जड़ चेतन उत्पन्न होते हैं, जिसके द्वारा उत्पन्न भूत (जड़ चेतन) जीते हैं, अन्त समय में जिसमें लीन हो जाते हैं।

(७) अपाणिपादो जवनो गृहीता पश्यत्यचक्षुः सशृणोत्यकर्णः।
सवेत्ति वेद्यं नच तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥ श्वेताश्वतर ॥३।१९।

यह बिना हाथ के पकड़ता, बिना पैर के चलता, बिना आँख के देखता, बिना कान के सुनता, और सब ज्ञातव्यों को जानता है, किन्तु उसका जाननेवाला (कोई) नहीं है। उसी को महान् पुरुष कहते हैं।

(८) अणोरणीयान महतोमहीयान् ॥ कठ० २।२।

यह छोटे से भी छोटा (तथा) बड़े से भी बड़ा है। उसका ज्ञान ऋषियों ने बुद्धि (Intellect) के ऊपर बोधि,(Intuition) द्वारा माना है। बुद्धि तर्क तो तर्कवाद है किन्तु बोधि तर्काश्रित न होकर केवल महात्माओं के विचारों का हमारे लिए विश्वासात्मक विषय हो जाता है, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है।

(९) शास्त्रयोनित्वात्। बाद० ब्र० १।१।३। (एक मात्र ब्रह्म शास्त्र के लिए मीमांसा की वस्तु है) सामान्य प्रतिषेधात् ॥ बाद० ब्र० ३।२।२६ (उससे इतर कुछ नहीं है।)

श्रुति उसे " नेतिनेति " (वह यह नहीं है, वह यह नहीं है) कहकर बतलाता है।)

(१०) अशब्द मस्पर्शमरूपमव्ययम् ॥ कठ० ३।१५ (उसके शब्द, स्पर्श, रूप, रोमाप्ति आदि कुछ नहीं है।)

तदेतद् ब्रह्मपूर्वमनपर मनन्तरमबाह्यम् ॥ बृहदा० २।५।१६। (उसके ब्रह्म के पहले, पीछे, भीतर या बाहर अन्य कुछ भी नहीं है।

तदनन्यत्वम्। बाद० ब्र० २।१।१४ (ससार ब्रह्म से अभिन्न है।

(११) एष ब्रह्मैष इन्द्र, एष प्रजापतिरेते सर्वे देवा इमानि च पञ्च भूतानि पृथिवी वायु आकाशआपो ज्योतींषीत्येतानीमानि चक्षुद्र मिश्राणीव बीजानी तराणि, चेतराणि चाण्डजानि च जरायुजानि च स्वेदजानि चोद्भिज्जानि, चाश्वागावा पुरुष हस्तिनो यत, किञ्चेदंप्राणि

जंगमंचपतत्रिच यच्च स्थावरम् सर्वं त प्रज्ञानेत्रम् प्रज्ञाने प्रतिष्ठितम् प्रज्ञानेत्रोलोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठिता प्रज्ञानं ब्रह्म । ऐतरे० ३-३२,

यह (सब) ब्रह्म है और यही इन्द्र है और यही प्रजापति है और सब ये देवता ब्रह्म हैं। पञ्चमहाभूत (अर्थात्) पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, तेज ये ब्रह्म हैं और क्षुद्र मिलनेवाले जीव भी और कारणकार्य और इनसे इतर अण्डों से उत्पन्न होनेवाले और गर्भाशय जात जीव और पसीने से उत्पन्न होनेवाले (कीड़े मकोड़े) और वृक्षादि ये सब ब्रह्म हैं और घोड़े, गऊ, बैल, मनुष्य, हाथी और जो कुछ यह प्राणवाला चरजीव हैं और पंखवाले और जो अचल पदार्थ हैं सो सब प्रज्ञानरूप नेत्रवाले और प्रज्ञान विषे स्थित हैं और लोक प्रज्ञानेत्र है और प्रज्ञा जगत् का आश्रयभूत है अतएव प्रज्ञान (प्रकर्षज्ञान) ही ब्रह्म है।

(१२) सत्यम् ज्ञानम् अनन्तम् इति ब्रह्म। तैत्तिरीय० प्रथमोनुवाक।

विकारशून्य ज्ञानस्वरूप काल दिक् की अवधि से शून्य ऐसा ब्रह्म है।

(१३) तदात्मानं स्वयमकुरुत ॥ तैत्ति० २।७।

उस (ब्रह्म) ने खुद अपने को ही (जगत् रूप में) किया, अर्थात् कारणार्णव से क्रियाशक्ति के प्रयोग के द्वारा वह ब्रह्म जगत् रूप में हुआ।

(१४) अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्व भावेन चोभयोः । अस्तीत्येवपलब्धस्य, तत्त्वभावः प्रसीदति ॥ कठ० १३।११७।

वह है, बस इतने ही विचार से वह प्राप्त हो सकता है और पंचतत्त्व सम्बन्धी कार्य, इन्हीं दो से (प्राप्त होने योग्य) हैं।

वह है ; इस विचार को जो पा गया है उसके चैतन्य शरीर और इन्द्रियों के समुदाय प्रसन्न होते हैं।

(१५) तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके । तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥ईशो० ५।

वह चलता है वह नहीं चलता (जो भाव चलने का हम समझते हैं उस प्रकार नहीं चलता किन्तु क्रियाशक्ति व्यवहार के कारण उन शक्तियों द्वारा वास्तव में चलता है।) वह दूर है वह निकट है, वह इस सारे जगत् के बाहर है। यहाँ भी विश्वानुग और विश्वातिग का भाव कथित है।

(१६) यद्वाचा नभ्युदितं येन वागभ्युद्यते । तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिद मुपासते ॥ केन० ४।

जो (ब्रह्म) वचन द्वारा न कहा गया है (अपितु) जिसके द्वारा वाणी बोलती है, उसे ही तू परमात्मा जान, उसे नहीं जिसकी उपासना करते हैं।

(१७) तं दुर्दर्शं गूढ़ मनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्। अध्यात्म योगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौजहाति ॥ कठ० १२।२१।

उस (परमात्मा) को जो कठिनता से जाना जाता है, छिपा हुआ है, शरीर के भीतर वाले (जीव) में भी प्रविष्ट अनादिकाल से है, जो मेधा के भीतर स्थित है और गह्वरेष्ठ (ऐसे स्थान पर है जहाँ पहुँचना दुस्तर है।) जो आकाश रूप अध्यात्मयोग से जाना जाता है, ऐसा जानकर धैर्यवान् व्यक्ति हर्ष शोक को त्याग देता है।

(१८) य एष सुप्तेषु जागर्तिकामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः। तदेव शुभ्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते। तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन ॥ एतद्वै तत् ॥ कठ० ८।६४।

जो सर्वव्यापक जगत् को बनाता हुआ, परमात्मा के अर्थों को पूर्ण करने के लिए इन (सब) के सोते रहने पर भी जागता है, वही जगत् का बीजरूप तथा ब्रह्म है, जो नाश रहित कहलाता है। उसी के सब लोग आश्रित हैं और कोई भी उसके नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकता। आश्रित होने से प्रयोजन उसी की शक्ति से ठहरे हुए से है। वह ऐसा है।

(१९) अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव। एक स्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ कठ० ९।१५।

जैसे अग्नि एक ही, ससार में घुसकर प्रत्येक रूप के साथ उसी रूप का हुआ, उसी भाँति सारे जड़-जंगम पदार्थों में व्याप्त होने वाला आत्मा (ब्रह्म) प्रत्येक रूप के साथ वैसा ही है तथा बाहर भी।

(२०) भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥ ३।१०४ ॥

उसी परमात्मा के भय (आशय) से आग जलती है, उसी के आशय से सूर्य तपता है, उसी के आशय से इन्द्र (मेघ) और वायु (काम करते) हैं और (इन चारो से इतर) पाँचवीं मौत भी अपने काम में लगी है।

(२१) न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्। हृदा मनीषा मनसाभि क्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥
॥ कठ० ९।११०।

इस परमात्मा का रूप सामने नहीं खड़ा होता है तथा कोई इसे आँख से नहीं देखता है। हृदय (प्रेम) से, बुद्धि से तथा मन से सर्वव्यापी प्रकाशक परमात्मा जाना जाता है। जो लोग इसे जान जाते हैं वे अमर हो जाते हैं। यहाँ कहा गया है कि केवल बुद्धि और विचार से ही नहीं वरन प्रेम होने से भी परमात्मा जाना जा सकता है अन्यथा नहीं।

उपर्युक्त २१ अवतरणों द्वारा निर्गुण ब्रह्म का विवरण दिया गया है। इससे जितना ऊँचा परमात्मभाव उस परम प्राचीन काल में कथित है, उससे बढ़कर किसी ने आज तक नहीं कह पाया है। जगदुत्पत्ति के दो मुख्य विचार हैं अर्थात् आरम्भवाद और परिणामवाद। पहले का यह भाव है कि किसी समय में ईश्वर ने स्वेच्छा से विश्व बनाया। ऐसा सोचने से उसमें इच्छा का स्थापन करना पड़ता है जो एक दरिद्रता गर्भित भाव है क्योंकि जिसके पास कोई कमी नहीं वह इच्छा किस बात की करेगा? यदि यह कहा जाए कि संसार रचना की शक्ति रखकर भी उसके पास संसार न था जिसके रचने की उसने इच्छा की, तो भी बिना ससार के उसे कुछ तो कमी भासित हुई, तब न उसने संसार बनाया। इसीलिए आरम्भवाद कुछ नीचा भाव है, यद्यपि उपर्युक्त अवतरणों में से कुछ से निकलता अवश्य है। किसी समय में पूरे का पूरा विश्व वर्तमान रूप में ईश्वर द्वारा बनाया जाना मानने से विश्वासी पुरुष हमारे सारे अनुभवों तथा प्राकृतिक नियमों के भी प्रतिकूल जाता है। परिणामवाद का प्रयोजन यह है कि पहले कारणार्णव था जिससे प्राकृतिक शक्तियों द्वारा विश्व बना जो अब भी उन शक्तियों व्यवहार से उन्नतिशील है। कारणार्णव के अनादि होने तथा शक्तियों के भी अनादि होने से

ईश्वर में कभी कोई इच्छा स्थापित नहीं होती, केवल उसके नियम उन्नतिशील हैं। उपर्युक्त कई अवतरणों में विना ईश्वरेच्छा के भी सांसारिक नियमों से जगत् का निर्माण कथित है जो निर्माण कारणार्णव की क्रमिक उन्नति मे होता आया है और अब भी हो रहा है। इसीलिए कथन जगत् वनाते हुए का है न कि वनाने का। वनाने का काम अव भी चल रहा है और अनन्त पर्यन्त चलता रहेगा। अतएव यह भाव बहुत ही ऊँचा है और कई मंत्रों से प्रतिध्वनित भी होता है। यह कहा गया है कि परमात्मा से इतर जग में कुछ नहीं है। विज्ञान भी इस वात को सिद्ध कर चुका है कि निर्जीव जगत् अन्तिम अवस्था में परमाणुओं का समूह है तथा प्रत्येक परमाणु केवल शक्तियों का केन्द्र है। अतएव निर्जीव जगत् शक्तियों का केन्द्र मात्र होकर और परमात्मा का शक्ति समूह होने से उससे वाहर नहीं रह जाता। सजीव जगत् में निर्जीव से बढ़कर सजीवता भर विशेप है। जीव भी शक्ति से इतर कुछ न होकर पूरा निर्जीव और सजीव जगत् ब्रह्म का ही अंग दीखता है। इन मन्त्रों में परमात्मा केवल विचारगम्य हो कर इन्द्रियों की शक्ति से वाहर माना गया है। तो भी इतनी कठिनता पड़ती है कि विश्व-रूप होकर परमात्मा विश्वानुग तो है, किन्तु विश्वातिग भी है या नहीं? हमारे उपनिषदों में उसे विश्वातिग भी माना गया है। यह वात तभी कही जा सकती है जब विश्व ससीम हो। आकाश भी जब जगत् का अंग है और वह असीम (अनन्त) है ही, तव, विश्व ससीम कैसे कहा जा सकता है? यह प्रश्न हमारे उपनिषदों में उठाया ही नहीं गया, फिर भी विश्व ससीम मान लिया गया, नहीं तो विश्वातिगता का भाव कैसे कहा जाता? कुछ महात्माओं से भी हमने यही

जिज्ञासा की तो उनका यही तर्क हुआ कि विश्व हमारे लिए असीम अवश्य है किन्तु ब्रह्म के लिए नहीं। उत्तर यही प्रत्यक्ष है कि कोई असीम वस्तु किसी के लिए भी ससीम न हो जायगी। फिर परमात्मा जब अज्ञेय है तब उसके लिए कोई वस्तु कैसी है सो हम जान ही कैसे सकते हैं? इन दोनों बातों के अतिरिक्त अपने शास्त्रीय ब्रह्मज्ञान के विषय में कोई शंका उठती नहीं दीखती और अपने शास्त्रीय ब्रह्मज्ञान की महत्ता तो प्रत्यक्ष ही सर्वमान्य है। एक यह भी बात कही जा सकती है कि जहाँ विश्व ससीम माना गया है वहाँ वह केवल दृश्य जगत् के भाव में आया है। विश्व का मूल विश् शब्द है जिससे वेद में भी विशः और वैश्य शब्द आए हैं, जिसका सम्बन्ध चर जगत् से है। आकाश हमारे यहाँ भी असीम माना गया है। उसे उपादेय कारण मानने में ही शंका उठ सकती है। यह अर्थ लगाने से अपने शास्त्रों का विश्वातिग वाला भाव तो तर्कानुकूल हो जाता है, किन्तु अपने आचार्यों ने विश्वातिगता से जगत् से बाहर भी परमात्मा का अस्तित्व मानकर एक प्रकार से जो परमेश्वरीय महत्ता दिखलाई है, वह भाव लुप्त हो जाता है।

ब्रह्म का अज्ञेय कथन—

(१) न सत् न चासत् शिव एव केवलः। श्वेताश्वतर, ४।१८। वह सत् है न असत्, केवल अद्वैत शिव है।

(२) अनादि मत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥ गीता १३।१२। यह ब्रह्म अनादि है, वह न सत् है न असत्।

(३) कश्चेतनो पियापाणः। योगवाशिष्टः। ब्रह्म चेतन होकर भी पापाण (सा) जड़ है।

यहाँ के प्रथम दो मन्त्र ब्रह्म में सत्ता और असत्ता दोनों स्थापित करके प्रतिकूलता का पोषण करते दीखते हैं, किन्तु मुख्य भाव यही समझ पड़ता है कि वह हमारे लिए अज्ञेय है।

जैसे भाव परमात्मा के सम्बन्ध में कहे गये हैं, उनसे परमात्मा का जगत् से अभिन्न विश्वेश्वर भाव (Pantheism) हो जाता है। इसीलिए हमारे ऋषियों ने विश्वातिगता का विचार दिखलाया है कि हम विश्व को ही ईश्वर मानने के कथन से बचें। इसका विवरण परमात्मा सम्बन्धी भूमावाद में विशेष है। उसमें ब्रह्म सम्बन्धी कई और ऊँचे ऊँचे भाव कथित हैं। मुख्य बात यह दीखती है कि मनुष्य की बुद्धि ससीम होने से असीमता का पूर्ण भाव उसकी समझ के बाहर है।

भूमावाद(Pantheism)—भूमैव सुखम् नाल्पे सुखमस्ति। छान्दो० ॥ भूमा ही सुख है, अल्प (मनुष्य) में सुख नहीं है।

यत्रनान्यत् पश्यति, नान्यत् शृणोति, नान्यत् विजानाति ॥ भूमा। अथ यत्रान्यत् पश्यति, अन्यत् शृणोति, अन्यत् विजानाति तदल्पम्। योवैभूमा तदमृतम् अथ यदल्पं तन्मर्त्यं। छान्दो० ७।२४।१। (जहाँ) और को नहीं देखता, नहीं सुनता, नहीं जानता वह भूमा (निर्गुण ब्रह्म) है और जहाँ और को देखता है, सुनता है (तथा) और को जानता है, वह अल्प (लघु, मनुष्य) है। जो वह भूमा है वह अमर है और जो अल्प है वह मर्त्य (मरने वाला) है।

यत्रत्वस्य सर्वं मात्मैवाभूत्तत्केनकं जिघ्रेत् तत्केनकं पश्येत् तत् केनकं अभिवदेत् तत् केनकं मन्वीत तत् केनकं विजानीयात् ॥ बृह० २।४।१४। (जहाँ सब कुछ उसी का आत्मा ही होगा, वहाँ किसके द्वारा

कौन सूंघा जायगा ? वहाँ कौन किसे देखेगा, वहाँ कौन किसे सुनेगा, वहाँ कौन किससे बोलेगा, कौन किसका मनन करेगा, कौन किसे जानेगा ?)

नह्यस्य प्राच्यादि दिशः कल्पन्तेऽथ तिर्यग्वाऽवाङ्वोर्ध्वा वा नूह्य एव परमात्माऽपरिमितोऽजः । मैत्रायि उपनि० ६।१७। (उसके लिए पूर्वादि दिशाएँ नहीं हैं, ऊपर नीचे भी नहीं हैं वह निराधार, असीम और अज है।)

नैवमूर्ध्वं न तिर्यञ्चनमध्ये परिजग्रभत् । श्वेताश्व० ४।१६। (ऊपर, बगल अथवा बीच में वह कहीं से भी घेरा नहीं जा सकता।)

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्चभव्यम् । (ऋग्वेद) (सब जो कुछ है, जो कुछ हुआ था अथच जो होगा वह सब पुरुष (परमात्मा) ही है।)[१]

आत्मैवेदं सर्वं—छान्दो० ७।२५।२। (यह सब आत्मा ही है।)

अनिश्चिता यथा रज्जुरन्धकारे विकल्पिता । सर्पधारादिभिर्भावैस्तद्वदात्मा विकल्पितः ॥ माण्डूक्यकारिका ॥

जिस प्रकार अन्धकार में निश्चय की कमी से रस्सी में साँप की कल्पना हो जाती है, उसी भाँति आत्मा में संसार की कल्पना है। यहाँ थोड़े ही आधार पर संसार की असारता मान ली गई है जो बहुत मान्य नहीं है। यह उत्प्रेक्षा एकांग में प्रत्यक्षतया ज्ञातव्य होकर भी दूसरे पक्ष में इसी प्रकार ज्ञेय न होने

से ठीक न बैठेगी क्योंकि संसार के पक्ष में अल्पायु होने से जिज्ञासु उसके मिथ्या रूप का निश्चय नहीं कर सकता।

प्रतीति मात्रमेवैतद् भाति विश्वं चराचरम्।
मायैव अघटन घटना पटीयसी ॥

(जो विश्व की प्रतीत हम सबको होती है वह माया के बल से, क्योंकि संकल्प शक्ति द्वारा माया (Hypnotism की भाँति) अघटित घटना हुई सी दिखला सकती है। यहाँ अपना शास्त्र तर्क तज कर सीधा विश्वास पर आगया है क्योंकि यदि जादू से कोई अघटित घटना दिखलाई भी जाय तो उसके सहारे से सारा अनुभव नहीं कट सकता।)

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। (गीता)
(असत् का भाव (होना) नहीं हो सकता तथा सत् का अभाव नहीं हो सकता।)

यहाँ प्रकट है कि हमारा वेदान्त अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं कहता। इसलिए सृष्टि अनादि मानी जायगी नहीं तो अभाव से भाव की उत्पत्ति आ जायगी।

आत्मा वा इदमग्र आसीत्॥ ऐत० २।१। (यह परमात्मा ही पहले था।)

सतपः तप्त्वा इदं सर्व्वं असृजत् यदिदं किन्च—तैत्तिरीय० २।६।

उसने तप (शक्ति का व्यवहार) करके यह जितना कुछ (सारा विश्व) है उसका सृजन किया। यहाँ इच्छा का कथन न होने से यह मन्त्र आरम्भवाद में न आकर प्राकृतिक शक्तियों

तत्सृष्ट्वा तदेव अनुप्राविशत् ॥ तैत्तिरीय० २।६।

विश्व को रचकर परमात्मा पीछे से उसी में प्रवेश कर गया। इस स्थान पर उपनिषद् ब्रह्म को पहले जगत् के बाहर सा मान कर आरम्भवाद की ओर चला गया है। वैज्ञानिक विचार तो ऐसा है कि जड़ और चेतन जगत् अन्त में केवल शक्ति समूह परमात्मा से पृथक् न होने से अद्वैत मत आता है। विविध वस्तुएँ सदैव थीं और उनका अस्तित्व केवल परमात्मा में था। प्राकृतिक शक्तियों की सत्ता, स्थिरता, आयोजन तथा समय के साथ विश्व की उन्नति के ही अनुभव से हम ब्रह्म की सत्ता का विचार करते हैं। यदि जगत् का आश्रय छोड़कर परमात्मा पर विचार करें तो उसका अस्तित्व अनुभवाश्रित, या तर्काश्रित न होकर केवल विश्वासाश्रित रह जायगा। ऐसी दशा में ब्रह्म का किसी जगत् में प्रवेश करना तर्कविज्ञान और विचार के प्रतिकूल जायगा क्योंकि विश्व ही के रूप में उसका अस्तित्व समझ में आ सकता है "अन्तर्बहिश्च" का वाक्य विचाराश्रित या विज्ञानाश्रित न होकर केवल विश्वासवाद है, क्योंकि यह विचार विश्व को ससीम और परमात्मा को असीम मानता है, किन्तु जगत् की ससीमता का हमारे सामने कोई प्रमाण नहीं है, वरन् ब्रह्म का अस्तित्व हमें विश्व से ही ज्ञात है और हो सकता है। जगत् से बाहर के कथन विश्वास मात्र रह जाते हैं सो भी विज्ञान के प्रतिकूल, जिससे उन्हें असिद्ध मानना पड़ता है जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। यदि यह असीमता केवल दृश्य जगत् से सम्बद्ध मानली जाय तो कोई झगड़ा नहीं रह जाता।

मयाततमिदम् सर्व्वं जगदव्यक्त मूर्तिना ॥ गीता ॥

मैं अव्यक्त रूप से सारे जगत् में व्याप्त हूँ। यहाँ जगत् को ईश्वर का रूप शब्दों में नहीं कहा गया है किन्तु है प्रस्तुत।

अव्यक्त (प्रकृति, आत्मा) व्याप्त है ही क्योंकि जब वह शक्ति रूप है और उससे इतर कोई शक्ति नहीं तथा विश्व भी शक्ति का केन्द्र मात्र है, तब वही विश्व रूप हो जाता है। इन कारणों से यद्यपि भूमावाद ब्रह्म का कथन मात्र जगत् के बाहर होने का भी करता है तथापि वह निराधार हो जाता है, और ब्रह्म विश्वरूप ही होने से वह भूमावाद (Pantheism) (विश्वेश्वरवाद) के आगे कथन मात्र में जाता है, विचाररूपेण साधारण प्रकार से नहीं। गीता का उपर्युक्त कथन इसी मत का समर्थन-सा करता है। यहाँ परमात्मा विश्वानुग मात्र है विश्वातिग भी नहीं। "पादोऽस्य विश्व भूतानि त्रिपादस्याँमृतं दिवि"। (परमात्मा के एक पाद में सारा विश्व है और तीन पाद विश्वातिग (अमृत) हैं। यहाँ भी विश्वासवाद दीखता है। "बहिरन्तश्च भूतानाम्।" (गीता) (परमात्मा भूतों) निर्जीव सजीव पदार्थों के भीतर है तथा बाहर भी।) अतएव हमारे शास्त्रों का मत है कि ब्रह्म जगत् के परमाणुओं में ओतप्रोत है। इस भाँति वह विश्वानुग होकर प्रपञ्चातिरिक्त भाव से विश्वातिग भी है। यह अन्तिम भाव उसकी महत्ता के कारण जोड़ा तो गया है और बोधि से बैठता भी है क्योंकि यदि उसे जगत् भर में ही मानें तो कुछ ससीमता सी दीखती है, किन्तु बोधि द्वारा प्राप्त ज्ञानबुद्ध्यातिग होने से तर्क द्वारा समर्थित न होकर विश्वासात्मक मात्र रह जाता है। इतना ही दोष इस भारी और उदार विचार में पड़ता है। "तत् सृष्ट्वा तदेव अनुप्राविशत्" (तैत्तिरीय) स्वगुणर्निगूढाम् (श्वेता०) विश्व को रच कर वह (परमात्मा)

उसी में प्रविष्ट हुआ (यहाँ आरम्भवाद आ जाता है जो विज्ञान और तर्क से ईश्वरीय महत्ता के प्रतिकूल पड़ता है।) तथा प्रपञ्च जाल से अपने आपको घेर लिया। (यहाँ भी आरम्भवाद आ जाता है।) जगत् सर्व शरीरंते। (रामायण) (सारा जगत् परमात्मा का शरीर है।) यह कथन वर्तमान विचार से भी मिल जाता है।

सर्व्वानन शिरोग्रीवः सर्व भूतगुहाशयः।
सर्व्वव्यापी स भगवान् तस्मात् सर्वगतः शिवः॥
(श्वेताश्व० ३।११)

सबके मुखों वाला (अर्थात् सब मुख उसी के मुख हैं) सब के शिरों वाला, (तथा) सबके गर्दनों वाला वह परमात्मा सबके मध्य स्थित होने से शिव (कल्याणकर) और सर्वगत (सबके भीतर विराजमान) है।

सर्वतः पाणिपादं तत् सर्व्वतोऽक्षि शिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्व्वमावृत्य तिष्ठति॥
(श्वेताश्व०३।१६)

उसके हाथ, पैर, आँख, शिर, मुख, कान सब कहीं हैं; वह सब में व्याप्त होकर वर्तमान है। उन मन्त्रों में वर्तमान विचारों का समर्थन है। यहाँ ईश्वर समष्टि रूप से व्यष्टियों में स्थित कहा गया है। वास्तव में शुद्ध भूमावाद को समष्टिवाद द्वारा समर्थित होना चाहिए। हमारा शरीर असंख्य (cells) कोषाणुओं (घटकों) से बना हुआ है। उनमें से प्रत्येक कोषाणु

औरों के साथ पूर्ण शरीर स्थापन में तो योग दिया करता है किन्तु अपना स्वतन्त्र जीवन भी रखता है. हमारे शरीर में प्रतिक्षण सैकड़ों कोषाणु मरते तथा नवीन उत्पन्न होते रहते हैं। शरीर बिना बदले देखने में जैसे का तैसा बना रहता है किन्तु उसके कोषाणु बराबर बदला करते हैं। इसी प्रकार सांसारिक पदार्थ प्रतिक्षण बदलते अवश्य रहते हैं किन्तु समष्टि रूप में परमात्मा उनका आधारभूत होकर भी नहीं बदलता। महेश्वर को ब्रह्म और ईश्वर को ब्रह्मा समझने का भाव धार्मिक हो सकता है, दार्शनिक नहीं।

> कोटि कोटिययुतानीशो चाण्डानिकथितानितु।
> तत्र तत्र चतुर्वक्त्रा ब्रह्माणो हरयोभवाः॥
>
> (देवी भागवत)

ब्रह्माण्ड अयुतों करोड़ों हैं और उनमें से प्रत्येक में ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र हैं। इन सबके समष्टि रूप महेश्वर हैं। (ब्रह्म विष्णु शिवा, ब्रह्मन् प्रधाना ब्रह्म शक्तयः)॥ ब्रह्मा, विष्णु और शिव ब्रह्म की प्रधान शक्तियाँ हैं। यह कथन धार्मिक है दार्शनिक नहीं।

> महतः परमव्यक्तम् अव्यक्तात् पुरुषः परः।
> पुरुषान्नपरं किञ्चित् साकाष्ठा सा परागतिः॥
>
> (कठ० १।३।११॥)

प्रकृति से अव्यक्त बड़ा है और अव्यक्त से पुरुष। पुरुष से बड़ा कुछ नहीं है। वही पराकाष्ठा और परम गति है।

उपर्युक्त विचारों से समझ पड़ता है कि हमारे जो भूमावाद से ग्राह्य विचार हैं वे (Pantheism) के आगे नहीं

बढ़ते, क्योंकि हमारा विश्वानुगता का विचार Pantheistic है ही और विश्वातिगता तर्काश्रित न होकर केवल विश्वासात्मिका है। इतना होने पर भी हमारा शुद्ध भूमावाद है सर्वोत्कृष्ट और इसके बराबर तक परमेश्वरीय भाव संसार के किसी धर्म में तो है नहीं, दर्शनशास्त्र में भी शायद न होगा। केवल Pantheism के नाम से भड़क कर हम लोगों को अपने परमोत्कृष्ट भूमावाद की उपेक्षा न करनी चाहिए।

ब्रह्म का सगुण कथन—

(१) द्विरूपं हि ब्रह्म अवगम्यते, नामरूप भेदोपाधि विशिष्टं तद्विपरीतञ्च सर्वोपाधिविवर्जितं। शंकर।

ब्रह्म के दो रूप बतलाए गए हैं, एक तो नाम रूप भेदोपाधि-वाला तथा उसके विपरीत सभी उपाधियों से विवर्जित। (इन्हीं दोनों को सविशेष लिंग और निर्विशेष लिंग भी कहते हैं।)

(२) एतद्वै सत्यकाम परञ्च अपरञ्च ब्रह्म। प्रश्नोप० ५।२।

हे सत्यकाम! यह ब्रह्म पर है और अपर भी। (सविशेष लिंग पर है तथा निर्विशेष अपर।)

(३) अभिध्येये शब्दस्य अशब्दस्य। मैत्रे० ६।२२।

ब्रह्म का ध्यान शब्द और अशब्द दोनों प्रकार से करना चाहिए। (निर्विशेष ब्रह्म का कथन तत् द्वारा होता है और सविशेष का सः द्वारा।)

(४) द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चामूर्तञ्च मर्त्यम्, चामृतञ्च ॥ ॥ बृह० २।३।१ ॥

ब्रह्म के दो रूप हैं मूर्त्त तथा अमूर्त्त, मर्त्य और अमृत। इन दोनों प्रतिकूल भावों का तर्क से सामंजस्य नहीं हो सकता। जब संसार में ज्ञानगम्य विचारों के मान करने वालों की संख्या पढ़ते में बहुत कम निकली, तब विश्वासात्मक अपर भाव निकाला गया जो तर्क से असिद्ध होकर भी उपयोगिता से संसार में चला।

(५) लीलयावापियुञ्जेरन् निर्गुणस्यगुणाः क्रियाः ॥

॥ भागवत ३।७।२ ॥

निर्गुण ब्रह्म लीला के द्वारा गुण और क्रिया से युक्त होता है। (वह ऐसी लीला क्यों करता है, इस प्रश्न का उत्तर सुगम नहीं है।)

(६) गृहीतमायोरुगुणः सर्गादावगुणः स्वतः ॥

॥ भागवत० २।६।२९॥

निर्गुण ब्रह्म खुद माया की उपाधि लेकर सगुण हो जाता है। यह तर्क के प्रतिकूल होकर भी आवश्यकता के कारण संसार में चलाया गया और जोर से चला।

(७) लोकवत् तु लीला कैवल्यम् । वाद० अ० २।१।३३

(सृष्टि ब्रह्म की केवल लीला है।)

वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात् तथाहि दर्शयति ॥ वाद० अ २।१।३४

संसार में शरीरियों के साथ जो विषमता (लोगों का भली बुरी विविध दशाओं में उत्पन्न होना) दीखती है वह उन्हीं के कर्मानुसार है अथच परमात्मा पक्षपातशून्य है। यदि कहिए

कि आदि में वैषम्य क्यों हुआ, तो ऐसे वैषम्य की आदिम स्थिति का कोई प्रमाण नहीं है। पहिले सब जीव समान हुए होंगे और पीछे के जन्मों में गुण कर्मानुसार विषमता आई।

(८) यस्तूर्ण नाभिः इव तन्तुभिः प्रधानजैः
स्वभावतोदेवएकः स्वमावृणोत् ॥ श्वेता० ६।१०।

जैसे मकड़ी अपने ही उत्पन्न किए हुए तारों से अपने को वेष्टित कर लेती है, इसी भाँति प्राकृतिक तन्तुओं से एक ही देव अपने को घेर लेता है। प्रयोजन यह है कि सगुण ब्रह्म भी है वास्तव में सगुणत्व से परे किन्तु जगत् के कल्याणार्थ सगुण रूप दीखता है। अतएव सविशेष और निर्विशेष कोई भिन्न तत्व नहीं, जैसे साँप और अहिकुण्डल।

(९) भक्त चित समासीनः ब्रह्म विष्णु शिवात्मकः।
॥ सूत संहिता ३।४८।

नमस्त्रिमूर्तये तुभ्यं प्राक् सृष्टिः केवलात्मने।
गुणत्रय विभागेन पश्चात् भेदमुपेयुषे॥

तुम तीन मूर्ति वाले को नमस्कार है, जो सृष्टि के पूर्व अद्वितीय एक थे, किन्तु सत्वरजादि तीनों गुणों के विभाग से पीछे भेद को प्राप्त हुए। तुम भक्त के चित्त (मात्र) में ब्रह्मा, विष्णु और शिव होकर स्थित हो (वास्तव में नहीं।)

(१०) स्यात् परमेश्वरस्यापीच्छा वशान्मायामयं रूपं साधकानुग्रहार्थम् ॥ ब्रह्मसूत्र १।१।२० ॥

साधकों पर कृपा करने के लिए परमेश्वर भी अपनी इच्छा के वश मायामय रूप धारण करता है। जब संसार में नेतिनेति-

पूर्ण "नसन्मुखेतिष्ठतिरूपस्य" (इसका रूप सामने नहीं दीखता) वाली औपनिषत् शिक्षा संसारी साधारण मनुष्यों की ज्ञानशून्यता के कारण न चल सकी, तब इच्छापूर्ण सगुण ब्रह्म का वर्णन होने लगा। पहिले तो ईश्वर का विचार केवल सत्ता रूप से कठोपनिषत् आदि में हुआ, अर्थात् हम यह नहीं जानते कि वह कैसा है, केवल इतना ज्ञान है कि वह है किन्तु जब स्वल्पज्ञानी साधकों का सन्तोष इस शुद्ध ज्ञान से न हुआ तब लीला और भक्तों पर अनुग्रह की इच्छा से सम्बद्ध, सगुण वर्णन किया गया और उस अव्यक्तात्मा के पर और अपर, अशब्द और सशब्द, निर्विशेष और सविशेष, निर्गुण और सगुण आदि भाव पूर्ण कुछ अशुद्ध किन्तु लोक संग्रहोपयुक्त भाव बादरायण व्यासादि तक ने कहे हैं। इसीलिए कहा गया है कि बोधि ऋषि युग है, तथा बुद्धि भाष्यकार का।

साधकानां हितार्थाय ब्रह्मणोरूप कल्पना। (भक्तों के हितार्थ ब्रह्म के रूप की कल्पना की जाती है।) जब शुद्ध विचारों से उसका कोई रूप है ही नहीं किन्तु स्वल्पज्ञानी साधकों की सन्तुष्टि के लिए उस अरूप का रूप कहा जाता है, तब वह कथन वास्तविक न होकर कल्पना मात्र ही होगा। गीता के टीकाकार श्री मधुसूदन सरस्वती कहते हैं कि अवतार में भगवान का वास्तविक देह सम्बन्ध समझना ठीक नहीं है। यहाँ पर हमारा ऋषि उपयोगितावश साकार कथन करता हुआ भी उसे अशुद्ध बतला कर निराकारता पर चला जाता है।

अरूप वदेवहि तत्प्रधानत्वात्। सूत्र ३।२।१४। ब्रह्म प्रधानतया अरूप ही कहा गया है।

सर्वेन्द्रिय गुणाभासं सर्वेन्द्रिय विवर्जितम् ॥ वह सर्वेन्द्रिय विवर्जित होकर भी सर्वेन्द्रिय गुणों वाला है। सिसृक्षा (सृष्टि रचनेच्छा) उसमें किस कारण से हुई इसका लीला के अतिरिक्त कोई उत्तर नहीं दिया गया है। दिया ही क्या जाता, जब साधकों का सन्तोष बिना लीला के न हुआ तब परमेश्वर में भी यह भाव अवश्य जोड़ना ही पड़ा।

जगदुत्पत्ति—

(१) अक्षरात् सम्भवतीह विश्वम् ॥ मुण्डक ॥

यह संसार अनन्त ब्रह्म से होता है।

(२) सूर्या चन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत् ॥ ऋग्वेद ॥

पहले समान सूर्य और चन्द्र को धाता (धारण करने वाले) ने कल्पित किया (बनाया)। यहाँ पहले के कथन से यह प्रयोजन नहीं है कि कभी सूर्य चन्द्रादि संसार से लुप्त होकर फिर से बने। ऐसे लोक नित्य प्रति बनते ही रहते हैं सो नवीन लोक उसी प्रकार से बने जैसे पुराने बनते थे जैसा कि ज्योतिषीय वर्णन में ऊपर आया है।

(३) तद्धेदं तर्हि अव्याकृत आसीत् ॥ बृहदारण्यक ॥

उस दशा में (संसारोत्पत्ति के पूर्व) वह अव्याकृत अप्रकट (unmanifest) था। यह ऋचा अनुभव को छोड़ कर बोधि द्वारा संसार की केवल परमाणु पूर्ण कारणार्णव वाली अवस्था कहती है।

(४) सदेव सोम्या इदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्।

आत्मा वा इदमेव अग्र आसीत् नान्यत् किञ्चन मिषत् ॥

। बृहदा० ।

उस पहली दशा में अद्वितीय सत् एक ही था । यही आत्मा ही पहले था और कुछ भी न था । इन मंत्रों में भी उपर्युक्तानुसार ही विचार हैं ।

(५) नासद् आसीत् तदानीं नो सत् आसीत् तदानीम् ।

उस समय सत् (existence) था न असत् । यह भाव समझना कुछ कठिन है । सत् का होना तो समझ ही पड़ता है किन्तु असत् का नहीं, क्योंकि जब तक सदसत् भेद समझने वाले ब्रह्म से इतर कोई पुरुष न था तब भी सत्ता तो थी ही । ईश्वर के सम्बन्ध में ऐसे प्रतिकूल कथन हमारे शास्त्रों में प्रायः मिलते हैं जो केवल साहित्यिक हैं दार्शनिक भी नहीं ।

(६) 'तम आसीत् तमसा गूढमग्रे' ।

पहले अन्धकार के द्वारा और भी तमावृत अन्धकार था । यह दशा किसी भी सूर्य की उत्पत्ति के पूर्व कारणार्णव वाली स्थिति की है ।

(७) स अकामयत बहुः स्यामप्रजायेव—तैत्ति० ॥ तत् ऐक्षत् बहुस्यां प्रजायेव—छान्दोग्य०

उसने कामना की कि प्रजा के रूप में मैं बहुत होऊं । उसने प्रजारूप में बहुत होने की इच्छा की । यहाँ दोनों मंत्रों में जगदुत्पत्ति के सम्बन्ध में ईश्वरेच्छा कथित है जो एक दरिद्रता सूचकभाव होने से परमेश्वर के सम्बन्ध में बहुत ठीक नहीं है । ये विचार ईश्वरीय सगुणत्व की ओर जाते हैं ।

(८) सोऽपोऽभ्यतपत् ताभ्याऽभितप्ताभ्यो मूर्तिरजायत यावैसा मूर्ति रजायतान्नवै तत् ॥ ऐतरेय० १० ।

उस (परमेश्वर) ने महाभूतियों को तपाया (संकल्प से भक्ति किया) (उन तपाये हुओं से मूर्ति उत्पन्न हुई और जो वह मूर्ति उत्पादित हुई वही निश्चय करके अन्न (भोग्य वस्तु) है। इस मंत्र में ईश्वरीय तप (स्फुरण, हरकत) से संसारोत्पादन कथित है जिसमें ईश्वरीय कामना का विचार नहीं है। ईश्वरीय तप से प्राकृतिक स्फुरण का विचार माना जा सकता है।

(६) तदन्तरस्य सर्वस्य तदुसर्वस्यास्य बाह्यतः। ईश ५।

यह (परमात्मा) सब के अन्दर है और बाहर भी। यहाँ परमात्मा जब संसार के बाहर भी माना गया तब संसार ससीम समझा गया, किन्तु संसार की सीमा है ही कहाँ? केवल ईश्वरीय महत्ता दिखाने को वह संसार से बड़ा कहा गया है, किन्तु जब संसार अनन्त है, तब उससे बाहर वाला भाव ठीक बैठता ही नहीं।

(१०) सभूमिं विश्वतो वृत्वा अत्य तिष्ठत् दशांगुलम् ॥
(ऋग्वेद, पुरुषसूक्त।)

सारी भूमि और संसार को घेरकर परमात्मा दश अंगुल अधिक स्थित है। यहाँ दश अंगुल का कथन उदाहरणात्मक है; प्रयोजन यह है कि परमत्मा विश्वानुग (जगत् के अन्दर) तथा विश्वातिग (जगत् के बाहर भी) है।

(११) विष्टभ्याह मिदं कृत्स्नं एकांशेन स्थितो जगत् ॥
गीता १०। ४२।

मैं सारे संसार को एक ही अंश से व्याप्त करके स्थित

हैं। यहाँ भी यह दर्शाया गया है कि ईश्वरीयसमग्रांश जगत् में नहीं है। फिर भी ईश्वर का ज्ञान जब हमें संसार के द्वारा ही होता है, तब उसके बाहर का भाव अनुभवातीत होने से कथन मात्र रह जाता है।

(१२) यच्च किञ्चित् जगत् सर्व्वं दृश्यते श्रूयतेऽपिवा।
अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः।

नारायण उपनिषद्, १३ अनुवाक।

सारा संसार जो कुछ देख या सुन पड़ता है उस सबके भीतर और बाहर भी व्याप्त होकर नारायण स्थित है। यहाँ केवल दृश्य और श्रुत जगत् का कथन है, सारे जगत् का नहीं। सो यह उसके भागमात्र का कथन समझ पड़ता है, पूरे विश्व का नहीं। अतएव विश्वातिगता का दोष यहाँ नहीं है।

(१३) अस्य ब्रह्माण्डस्य समन्ततः स्थितानि एतादृशानि अनन्तकोटि ब्रह्माण्डानि सावर्णानि ज्वलन्ति॥ छान्दो॰॥

हमारे इस ब्रह्माण्ड के सब ओर स्थित ऐसे ही अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड इसी प्रकार के तेज फैला रहे हैं। यह विचार उपर्युक्त ज्योतिषीय कथनों से मिल जाता है।

(१४) प्रतीति मात्र सेवैतद् भाँति विश्वं चराचरम्।
मायान्तु प्रकृतिं विद्यात्। श्वेताश्व॰ ४।१०।

यह चराचर युक्त सारा जगत समझ भर पड़ता है अपितु वास्त-
। वस्तु की असारता
] दृढ़ कहीं भी नहीं
शक्तियों का केन्द्रमात्र

उस (परमेश्वर) ने महाभूतियो को तपाया (संकल्प से भक्ति किया) (उन तपाये हुओं से मूर्ति उत्पन्न हुई और जो यह मूर्ति उत्पादित हुई वही निश्चय करके अन्न (भोग्य वस्तु) है। इस मंत्र में ईश्वरीय तप (स्फुरण, हरकत) से संसारोत्पादन कथित है जिसमें ईश्वरीय कामना का विचार नहीं है। ईश्वरीय तप से प्राकृतिक स्फुरण का विचार माना जा सकता है।

(६) तदन्तरस्य सर्वस्य तदुसर्वस्यास्य बाह्यतः। ईश ५।

यह (परमात्मा) सब के अन्दर है और बाहर भी। यहाँ परमात्मा जब ससार के बाहर भी माना गया तब संसार ससीम समझा गया, किन्तु संसार की सीमा है ही कहाँ? केवल ईश्वरीय महत्ता दिखाने को वह संसार से बड़ा कहा गया है, किन्तु जब संसार अनन्त है, तब उससे बाहर वाला भाव ठीक बैठता ही नहीं।

(१०) सभूमिं विश्वतो वृत्वा अत्य तिष्ठत् दशांगुलम् ॥
(ऋग्वेद, पुरुषसूक्त।)

सारी भूमि और संसार को घेरकर परमात्मा दश अंगुल अधिक स्थित है। यहाँ दश अंगुल का कथन उदाहरणात्मक है; प्रयोजन यह है कि परमत्मा विश्वानुग (जगत् के अन्दर) तथा विश्वातिग (जगत् के बाहर भी) है।

(११) विष्टभ्याह मिदं कृत्स्नं एकांशेन स्थितो जगत् ॥
गीता १०। ४२।

मैं सारे संसार को एक ही अंश से व्याप्त करके स्थित

हूँ। यहाँ भी यह दर्शाया गया है कि ईश्वरीयसमग्रांश जगत् में नहीं है। फिर भी ईश्वर का ज्ञान जब हमें संसार के द्वारा ही होता है, तब उसके बाहर का भाव अनुभवातीत होने से कथन मात्र रह जाता है।

(१२) यच्च किञ्चित् जगत् सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपिवा। अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्यनारायणः स्थितः।

नारायण उपनिषद्, १३ अनुवाक।

सारा संसार जो कुछ देख या सुन पड़ता है उस सबके भीतर और बाहर भी व्याप्त होकर नारायण स्थित है। यहाँ केवल दृश्य और श्रुत जगत् का कथन है, सारे जगत् का नहीं। सो यह उसके भागमात्र का कथन समझ पड़ता है, पूरे विश्व का नहीं। अतएव विश्वातिगता का दोष यहाँ नहीं है।

(१३) अस्य ब्रह्माण्डस्य समन्ततः स्थितानि एतादृशानि अनन्तकोटि ब्रह्माण्डानि सावर्णानि ज्वलन्ति॥ छान्दो० ॥

हमारे इस ब्रह्माण्ड के सब ओर स्थित ऐसे ही अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड इसी प्रकार के तेज फैला रहे हैं। यह विचार उपर्युक्त ज्योतिषीय कथनों से मिल जाता है।

(१४) प्रतीति मात्र सेवैतद् भाँति विश्वं चराचरम्। मायान्तु प्रकृतिं विद्यात्। श्वेताश्व० ४।१०।

यह चराचर युक्त सारा जगत् समझ भर पड़ता है अपितु वास्तविक नहीं है। प्रकृति को केवल माया समझो। वस्तु की असारता का विचार पाश्चात्य दर्शन में भी है किन्तु दृढ़ कहीं भी नहीं दीखता वस्तुमात्र अन्त में परमाणु है जो में शक्तियों का केन्द्रमात्र

है। तो भी है वह सत्। सारी वस्तुएँ अन्त में शक्ति के केन्द्रमात्र होने तथा परमात्मा के शक्ति समुदाय होने से वे वस्तुएँ सत्ता केवल परमात्मा में रखती हैं, उससे बाहर नहीं। फिर भी है वह सत्ता वास्तविक। जीवात्मा भी अन्त में शक्तिमात्र होकर परमात्मा से पृथक् सत्ता नहीं रखता किन्तु है वह भी सत्। इस प्रकार परमात्मा से इतर जड़ चेतन की कोई सत्ता नहीं है और अद्वैतवाद सिद्ध हो जाता है किन्तु इस सिद्धि से प्रकृति की सत्ता कटती नहीं। आजकल भूत और रसायनशास्त्रों (Physics and Chemistry) की उन्नति से अद्वैतवाद को मायवाद से इतर तथा विवर्तवाद से पृथक् भी अपूर्व दीप्ति मिलती है जिससे अद्वैतवाद के लिए जगत् को आभासमात्र मानने की आवश्यकता अब नहीं रहती है।

(१५) प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपो तप्यत स तपस्तप्त्वा मिथुनमुत्पादयते रयिञ्च प्राणञ्चेति एतौ मे बहुधा प्रजा करिष्यत इति ॥ ॥४॥ प्रश्नो०।

प्रजा के लिए उस प्रजापति ने तप तपा (शक्ति का व्यवहार किया, प्राकृतिक शक्तियों से काम लिया)। उसने तप करके एक जोड़ा उत्पन्न किया जिसमें रयि (भोग्य जड़ जगत्) तथा प्राण (भोक्ता सजीव जगत्) है (इस विचार से कि) ये दोनों मेरे बहुत प्रकार की प्रजा करेंगे;

जगदुत्पत्ति का कथन किसी धर्म में सिसृक्षा (ईश्वरीय सृष्टि रचनेच्छा) से पृथक् नहीं कथित है। दर्शनशास्त्र शुद्ध तर्क के सहारे आरम्भवाद तथा परिणामवाद पर विचार करके अंतिम भाव को पुष्ट ठहराता है। हमारे यहाँ वेदान्त में मिलते

दोनों भाव हैं, किन्तु उसकी भारी बहादुरी हम इसी बात से समझते हैं कि भूतशास्त्र (Physics), रसायनशास्त्र (Chemistry) तथा दर्शनशास्त्र (Philosophy) की अनुन्नत प्राथमिक दशा में भी हमारे वेदान्त ने वह परमोन्नत विचार बोधि द्वारा देख तो लिया जिसका शुद्ध रूप अब उपयुक्त शास्त्रों तथा ज्योतिष शास्त्र के परमोन्नत विचार जान लेने से हम लोगों के सामने सुगमतापूर्वक आ जाता है। अब माया, विवर्तवाद, मकरी आदि के उदाहरण अनावश्यक हो गए हैं क्योंकि उपयुक्त शास्त्रों की उन्नति से अब अद्वैतवाद सुगमतापूर्वक सिद्ध हो सकता है।

माया और प्रकृति

ब्रह्म एक मेवाद्वितीयम्' (ब्रह्म एक है, उससे दूसरा कुछ नहीं है)। सर्व्वं खल्विदं ब्रह्म। (छान्दोग्य ३।१४।१) यह सब निश्चयपूर्वक ब्रह्म है)। असंख्याताश्च रुद्राख्याता असंख्याताः पितामहाः। हरयश्च असंख्याता एकएव महेश्वरः ॥ देवी भागवत ॥

(प्रति ब्रह्माण्ड से सम्बद्ध ब्रह्मा, विष्णु, महेश के होने तथा असंख्य ब्रह्माण्डों के होने से) असंख्य रुद्र कहे गए है, असंख्य ब्रह्म हैं और असंख्य विष्णु किन्तु परमात्मा एक ही है। परमात्मा में " नेह नानास्ति किञ्चन " बृह० ४।४।१०) सिवा एक रसत्व के कोई विविधपन नहीं हैं। जो प्रकृति यहाँ देख पड़ती है उसकी परमात्मा से पृथक् कोई सत्ता नहीं है वरन् "मायन्तु प्रकृतिं विद्यात्" (श्वेताश्व० ४।१०) प्रकृति को (केवल) माया समझो। तत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदाहृतः। वस्तु के

स्वरूप की प्रच्युति के बिना ही किसी वस्तु में अन्य के भाव होने को विवर्त कहते हैं। इस भाँति ब्रह्म में जगत् का अध्यास होता है, सीप में चाँदी का, रज्जु में कभी कभी अहि का, मरुस्थली में सौर किरणों से जल का, इत्यादि। ये सब विवर्त के उदाहरण हैं।

वास्तव में हमारा अनुभव भूतों (सांसारिक जड़ चैतन्य स्वरूपों) को सत् बतलाता है, अतएव इन्हें असत् मानना अनुभव के प्रतिकूल है। भूतशास्त्र (Physics) तथा रसायन शास्त्र (Chemis'ry) द्वारा अब सिद्ध हो चुका है कि चैतन्य जगत् का मूल कारण जड़ जगत् ही है जिसमें चैतन्यता मात्र जुड़ गई है, तथा जड़ पदार्थों के मूल विविध परमाणु हैं जो अन्त में शक्तियों के केन्द्र मात्र हैं। यदि परमात्मा को शक्ति रूप अथवा उनका आधार मान लें तो उससे इतर भूतों की स्थिति नहीं रहती, क्योंकि जीवात्मा तक सत् होने पर भी कुछ शक्तियों का केन्द्र मात्र माना जा सकता है। इस प्रकार शक्तिवाद के अनुसार सारे जड़ चैतन्यों अथच जीवात्माओं को सत् मानकर भी और अपने सांसारिक अनुभवों को पूरा मान [illegible] भी अद्वैतवाद सिद्ध हो जाता है। ऐसी दशा में मा [illegible] आवश्यकता नहीं रह जाती तथा अद्वै [illegible]

जीवात्मा—

(२) घटादिषु प्रलीनेषु घटाकाशादयो यथा ।
आकाशे संप्रलीयन्ते तद्वज्जीवा इहात्मनि ॥
॥ गौड़पाद (शंकर के दादा गुरु)

जैसे घटादि के टूटने से घटाकाशादि महाकाश में विलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार देह के विनाश से जीव ब्रह्म में लय हो जाता है।

(३) अथयादस्मिन् ब्रह्मपुरे। पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चतुष्पदः॥
पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशत्। देहो देवालयः
प्रोक्तो योजीवः स सदाशिवः॥ मैत्रेयी २।१।

अब उस (ब्रह्म) का कथन करते हैं जो इस देहरूपी पुर में है। इसी से देह ब्रह्मपुर कहलाता है। उसने द्विपद और चतुष्पद का पुर बनाया और पक्षी होकर तथा पुरुष बनकर उन पुरों में प्रवेश कर गया। देह को देवालय कहा है और जो जीव है वही सदाशिव है।

(४) मनसैतानि भूतानि प्रणमेद् बहुमानयन्।
ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति ॥
॥ भागवत, ३।२९।२९।

इन सब भूतों को बहुत आदर के साथ मान से प्रणाम करें। (क्योंकि) स्वयं भगवान कलारूप जीव द्वारा इनमें प्रविष्ट है।

(५) उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन पुरुषः परः॥
॥ गीता १३।२३ ॥

इस शरीर में सबसे ऊँचा पुरुष विराजमान है जो परमात्मा भी कहा गया है। वही देखने वाला, अनुमान करने वाला, भरण कर्ता, भोगनेवाला महास्वामी है।

स्वरूप की प्रच्युति के बिना ही किसी वस्तु में अन्य के भाव होने को विवर्त कहते हैं। इस भाँति ब्रह्म में जगत् का अध्यास होता है, सीप मे चाँदी का, रज्जु मे कभी कभी अहि का, मरुस्थली मे सौर किरणों से जल का, इत्यादि। ये सब विवर्त के उदाहरण हैं।

वास्तव मे हमारा अनुभव भूतों (सांसारिक जड़ चैतन्य स्वरूपों) को सत् बतलाता है, अतएव इन्हें असत् मानना अनुभव के प्रतिकूल है। भूतशास्त्र (Physics) तथा रसायन शास्त्र (Chemistry) द्वारा अब सिद्ध हो चुका है कि चैतन्य जगत् का मूल कारण जड़ जगत् ही है जिसमें चैतन्यता मात्र जुड़ गई है, तथा जड़ पदार्थों के मूल विविध परमाणु हैं जो अन्त में शक्तियों के केन्द्र मात्र हैं। यदि परमात्मा को शक्ति रूप अथवा उनका आधार मान लें तो उससे इतर भूतों की स्थिति नहीं रहती, क्योंकि जीवात्मा तक सत् होने पर भी कुछ शक्तियों का केन्द्र मात्र माना जा सकता है। इस प्रकार शक्तिवाद के सहारे सारे जड़ चैतन्यों अथच जीवात्माओं को सत् मानकर भी और अपने सांसारिक अनुभवों को पूरा मान करके भी अद्वैतवाद सिद्ध हो जाता है। ऐसी दशा मे माया और विवर्तवादों की आवश्यकता नहीं रह जाती तथा अद्वैतवाद भी सिद्ध रहता है।

जीवात्मा—

(१) आकाशैकं हि यथा घटादिषु पृथग् भवेत्।
तथात्मैको ह्यनेकस्थो जलाधारेष्विवांशुमान्॥

जैसे एक ही आकाश घटों (मठों) आदि में अलग हो जाता है (यद्यपि घटाकाश, मठाकाश, और महाकाश रहते एक ही हैं, कथन मात्र का अन्तर रहता है) उसी भाँति कई जलाधारों (वर्तनों) में सूर्य्य के प्रतिबिम्ब सा परमात्मा सभी आत्माओं में पृथक् आभासित होकर भी रहता एक ही है।

(२) घटादिषु प्रलीनेषु घटाकाशादयो यथा ।
आकाशे संप्रलीयन्ते तद्वत्जीव इहात्मनि ॥
॥ गौड़पाद (शंकर के दादा गुरू)

जैसे घटादि के टूटने से घटाकाशादि महाकाश में विलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार देह के विनाश से जीव ब्रह्म में लय हो जाता है।

(३) अथयादत्तं अस्मिन् ब्रह्मपुरे। पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चतुष्पदः ॥
पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशत् । देहो देवालयः
प्रोक्तो योजीवः स सदाशिवः ॥ मैत्रेयी २।१ ।

अब उस (ब्रह्म) का कथन करते हैं जो इस देहरूपी पुर में है। इसी से देह ब्रह्मपुर कहलाता है। उसने द्विपद और चतुष्पद का पुर बनाया और पक्षी होकर तथा पुरुष बनकर उन पुरों में प्रवेश कर गया। देह को देवालय कहा है और जो जीव है वही सदाशिव है।

(४) मनसैतानि भूतानि प्रणमेद् बहुमानयन्।
ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति ॥
॥ भागवत, ३।२९।२९ ।

इन सब भूतों को बहुत आदर के साथ मान से प्रणाम करें। (क्योंकि) स्वयं भगवान कलारूप जीव द्वारा इनमें प्रविष्ट है।

(५) उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन पुरुषः परः ॥
॥ गीता १३।२२ ॥

इस शरीर में सबसे ऊँचा पुरुष विराजमान है जो परमात्मा भी कहा गया है। वही देखने वाला, अनुमान करने वाला, भरण कर्त्ता, भोगनेवाला महास्वामी है।

(६) एक एवहि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जल चन्द्रवत् ॥
॥ ब्रह्म बिन्दु, १२। आभास एवच ब्रह्म सूत्र २।३।५० ।

[वह (जीवात्मा) दीखता भर है ।] हर एक भूत प्राणी में एक ही आत्मा भली भाँति विद्यमान है जो जल में चन्द्र परछाई की भाँति एक और अनेक रूपों में दीखता है ।

(७) तथात्मैको ह्यनेकस्थो जलाधारे ष्विवांशुमान्। ऐतरेय १०।
जैसे सूर्य कई बरतनों के जलों में अलग अलग दीखता है, वैसे ही एक आत्मा अनेक शरीरों में पृथक् दीखता है ।

(८) समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नः अनीशया शोचिति मुह्यमान । जुष्टं यदा पश्यति अन्यमीशं अस्य महिमानं इति वीतशोकः ॥
॥ मुण्डक ॥

एक ही वृक्ष (शरीर) में दो पुरुष (जीवात्मा और परमात्मा) हैं । उनमें से जो निमग्न (ससार में लिप्त) है वह अनीश भाव के कारण मोहित होकर (अनेकानेक सांसारिक कारणों से) शोक करता है, (किन्तु) जब उसी में युक्त दूसरे को देखता है जो ईश (मालिक) है (तथा) महिमा (समझता) है तब शोक से पार हो जाता है ।

(९) ज्ञाज्ञौ द्वौ ईशानीशौ ॥ मुण्डक ॥
ईश और अनीश दो हैं जिनमें एक प्राज्ञ है और दूसरा अज्ञ ।

(१०) तदा द्रष्टु. स्वरूपेऽवस्थान सोऽहम् अहं ब्रह्मास्मि ॥
(पतञ्जलि)

जब जीव महिमा में प्रतिष्ठित होकर अपने (वास्तविक) रूप में स्थित होता है तब जान लेता है कि " वह (ब्रह्म) मैं हूँ,

मैं ही ब्रह्म हूँ।" इस प्रकार वेदान्त में जीव और ब्रह्म की अन्तिम एकता ज्ञान की दशा में मानी गई है।

(११) ह्लादिनी सन्धिनी सवित त्वय्ये के सर्व्व संस्थितौ ॥
॥ विष्णुपुराण ॥

ये तीन प्रकार की शक्तियाँ हैं जो ईश्वर में स्थित कही गई हैं। आनन्द (प्रेम) का प्रकाश ह्लादिनी शक्ति से होता है सत् भाव का सन्धिनी से और चित् भाव का सवित् से। इस प्रकार इन तीनों से सच्चिदानन्द भाव बनता है। ये तीनों शक्तियाँ जीव में अव्यक्त या अर्धव्यक्त रहती हैं, जिससे उसका ब्रह्म चक्र (संसार के शरीरों) में भ्रमण करता है; यथा, तस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्म-चक्रे। श्वेताश्व० (इसी कारण से हंस (जीवात्मा) ब्रह्म चक्र में भ्रमण करता है।)

(१२) अविभागेन दृष्टत्वात्—बादरायण कृत ब्रह्मसूत्र ४।४।४।
मुक्त जीव का ब्रह्म से अभेद (अविभाग) हो जाता है।

(१३) ततो मां तत्त्वतोज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥
॥ गीता १८।५५ ॥

मुक्त जीव मुझे (ब्रह्म को) शुद्ध रूप में जान कर मुझी में प्रविष्ट होजाता है। अतएव यह केवल मिलन न होकर बिन्दु-सागरवत् पूर्ण मिश्रण है।

(१४) पुरि बसति शेते वा पुरुषः। नर और नारी दोनों पुरुष हैं। देह पुर कहा गया है और देही (जीवात्मा) उसमें बसने से पुरुष है।

" नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः। श्वेताश्व०३।१८।
"पुरमेकादश द्वारं" कठ, २।१।१।

नवद्वार के पुर (शरीर) में हंस (जीवात्मा) बाहर से क्रीड़ा करता है। ब्रह्मरन्ध्र नाभिरन्ध्र को मिलाकर शरीर के ग्यारह दरवाजे कथित हैं।

(१९) अणोरणीयान् महतो महीयान्।

(जीवात्मा छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा है।) जीवात्मा के विषय में पहले एक और स्थान पर इस निबन्ध में कहा जा चुका है। उपर्युक्त मन्त्रों में जीवात्मा और परमात्मा का अन्तर काल्पनिक सा होने से जीवात्मा की वास्तविक सत्ता सन्दिग्ध सी हो जाती है। मुक्ति का विचार भी संसार को बखेड़ा मात्र समझ कर उससे छुटकारा पाना ही अलभ्य लाभ समझता है। जगत् को दुःख योनि वास्तव में वे ही लोग मानते हैं जो अपने उचित भाग से बहुत अधिक सांसारिक सुख पाने का अपना अधिकार स्वयं सिद्ध समझते हैं। हमारा सारा अनुभव यही बतलाता है कि संसार का छोड़ना दुःखद तथा यहाँ रहना सुखद है, नहीं तो प्रिय लोगों की मृत्यु पर सुख मनाने और ढोल बजाने का मामला सिद्ध हो जायगा। अपनी सबसे पहली और बड़ी थाती शरीर है। वह तो एक दिन छूट ही जाता है किन्तु उसके प्रतिनिधि जीवात्मा का मरणानन्तर अस्तित्व का विचार दृढ़ मान कर मनुष्य अपने अमरत्व की आशा से सुख मानना चाहता है। मुक्ति का भाव इस आशाप्रद ज्ञान के बहुत कुछ प्रतिकूल पड़ता है। हम जीवात्मा के अस्तित्व को मरणान्तर भी सिद्ध मानने वालों में हैं। मुक्ति से आवागमन का विचार हमें विशेष हर्षप्रद और आशाजनक समझ पड़ता है।

मुद्रक— लोक-साहित्य, प्रेस, घीयामण्डी, मथुरा।

भारतीय धर्म और दर्शन

शुद्धि पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	५	जन्य	जय
४	१०	५६३७	५६३
६	१	धायय	वायव्य
कई स्थानों पर		प्रथक्	पृथक्
१३	१३	नाम्नीक	नाम्नी
१५	११	सत्र	सूत्र
१६	१०	काशिराज, अजातशत्र्	काशिराज,अजातशत्रु
१७	१७	जैभी	जैसी
१६	अन्तिम	रुक्य	रुक्म
२०	२३	मलक	मूलक
२२	६	कणादि	कणाद
२५	अन्तिम	समाजिक	सामाजिक
२८	२१	गयी	गया
२६	१	किया	किया गया
३०	२	वाण्णावतार	कार्ण्णावतार
३०	११	लोकभिरुचि	लोकाभिरुचि
३४	१५	प्रवत्ति	प्रवृत्ति
३६	७	खङ्ग	खड्ग
३७	३	विष्य	विषय
४२	१०	खजुराही	खजुराहो
५१	१८	१६६२	११६२

५१	अन्तिम	१६३५	१५३५
५२	१	१६८७	१५८७
५३	१६	१४८४	१५१४
५७	अन्तिम	प्रेमनाथ	प्राणनाथ
६१	६	खोये	खरे
६१	२०	महादेव	महादेव मानते
६७	१६	योग्य	भोग्य
७०	तीन जगह	सिद्ध	सिद्धि
७१	२	घृत्यायोजन	धृत्यायोजन
७२	६	म	न
७२	१६	॥लब्धस्य	पलब्धस्य
७३	६	कश्चम	कश्चन
८१	१६	भारतः	भारत
८६	७	परिवर्तन	परिवरतन
८७	२,४	देहनि	दहिन
८७	१२	काहेत	काहे ते
८८	११	अवशिष्टांग	अवशिष्टशि
८६	२३	एव	एक
६४	१४	संसार	संसार त्याग
६५	४,५	जनकादय, कर्तमर्हसि	जनकादयः कर्तुमर्हसि
६७	४	याम	माम
१०२	२३	बहुनां	बहूनां
१०८	५	सूर्यं	सत्य
१२७	२१	जाते हैं	जाती है
१२८	अन्तिम	पू० अर्थात्	पू०

१२६	२३	सामिग्री रचित	सामग्री रचित
१३२	१४	रोमाप्ति	समाप्ति
१३६	२४	शक्तियों	शक्तियां के
१३६	१६	पदल्पं	यदल्पं
१४१	५	प्रतीस	प्रतीति
१४१	१७	सीत्	आसीत्
१४१	अन्तिम	शक्तियों	शक्तियों द्वारा विश्व सृजन बतलाता है।
१५३	अन्तिम	जो में	जो
१५४	१३	तयो	तपो

पृष्ठ १२६ के दूसरे पैरा में ४ व ५ पंक्तियों का पाठ यों हो.— " कर्म काण्ड है। उपनिषत् १६४ हैं। "

पृष्ठ ११५ पर दूसरे श्लोक का अर्थ यों है:—

" जिन वस्तुओं के लिये सारे प्राणी सुप्त हैं, उनके लिये संयमी जागरूक है, तथा जिनके लिये सब प्राणी जागरूक हैं, उनके लिये देखने वाला मुनि सुप्त है। "

नोट—बिन्दु, विसर्ग, मात्राओं आदि की भूलें कृपालु पाठक शुद्ध रूप में पढ़ लें। ग्रन्थ का प्रूफ में देख न सका, इसीसे क्षमा का और भी प्रार्थी हूँ।

—शुकदेव बिहारी मिश्र